श्री जैन [illegible]

आश्विन, कार्तिक सं० २४६६
अक्टूबर १९४०

अनेकान्त

वर्ष ३, किरण १२
वार्षिक मूल्य ३ रु०

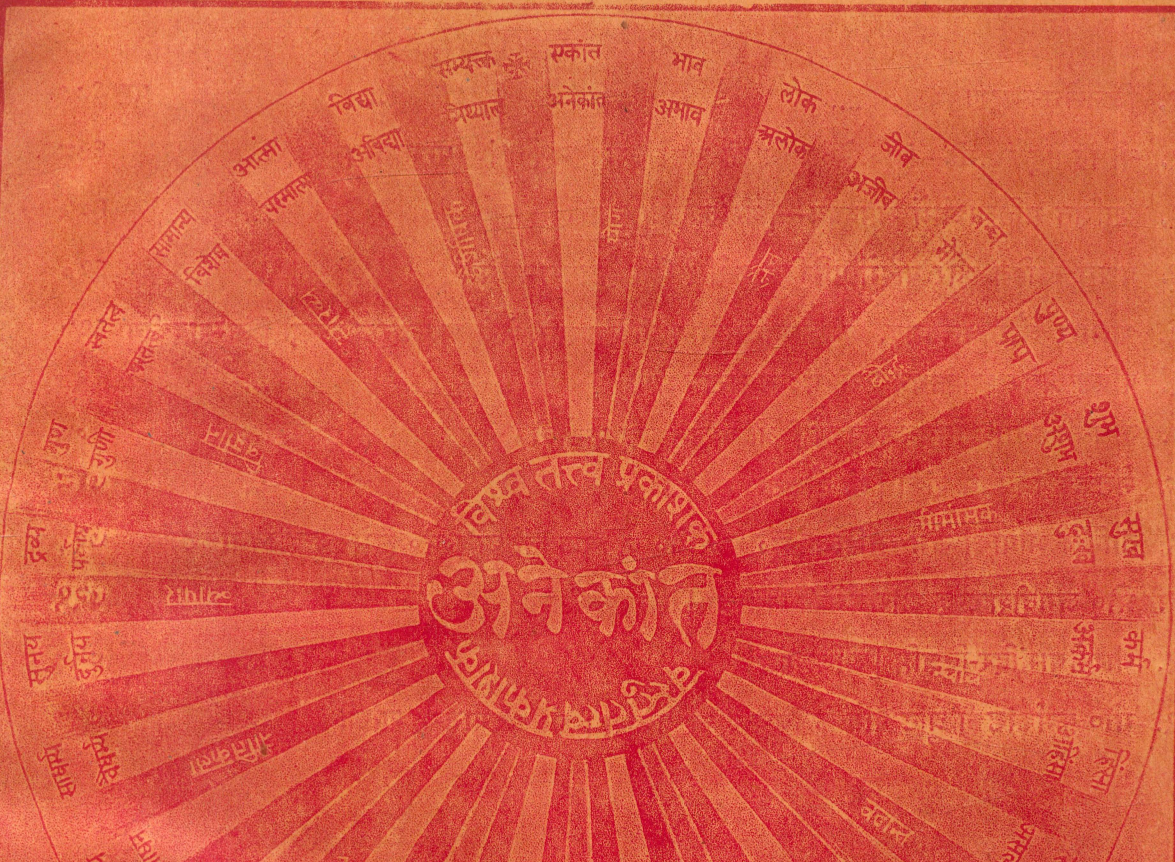
सम्यक्त्व
एकांत
भाव
विद्या
मिथ्यात्व
अनेकांत
अभाव
लोक
आत्मा
अविद्या
अलोक
जीव
परमात्मा
अजीव
सामान्य
विशेष
पुण्य
पाप
शुभ
अशुभ
मीमांसक
कर्म
द्रव्य
विश्वतत्त्व प्रकाशक
अनेकांत

सम्पादक—
जुगलकिशोर मुख़्तार
अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—
तनसुखराय जैन
कर्नाट सर्कस पो० बो० नं० ४८ न्यू देहली।

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

विषय-सूची

१: जिनसेन-स्मरण .... पृष्ठ ६७७
२: श्रीभद्रबाहु स्वामी—[मू० ले० मुनि श्री चतुरविजय अनु० पं० परमानन्द ... ६७८
३: शिक्षित महिलाओंमें अपव्यय—[श्री ललिताकुमारी ६८५
४: प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों ? [श्री दौलतराम मित्र ... ६९०
५: आभार और धन्यवाद, अनेकान्तका आगामी प्रकाशन, मेरी आन्तरिक इच्छा [सम्पादकीय ६९५
६. पण्डितप्रवर आशाधर [श्री पं० नाथूराम प्रेमी ... ६९७
७: ऊँच-नीच-गोत्र विषयक चर्चा [श्री बालमुकुन्द पाटोदी ... ७०७
८. मेंढकके विषयमें शंका [श्री दौलतराम मित्र ... ७१८
९. तामिल भाषाका जैन साहित्य [मू० ले० प्रो० ए: चक्रवर्ती अनु०पं० सुमेरचन्द दिवाकर ७२१
१०: प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा [सम्पादकीय ... ७२९
११: वीरसेवामंदिर-विज्ञप्ति [अधिष्ठाता ... ७५५
१२: गो० कर्मकांडकी त्रुटि पूर्ति के विचार पर प्रकाश [पं० परमानन्द शास्त्री ... ७५७

वीरसेवा मन्दिर को सहायता

हालमें बा० विश्वम्भरदासजी जैन गार्गीय, झाँसी ने, वीरसेवामन्दिरमें पधार कर उसके कार्यों पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उसे १०) रु० की सहायता प्रदान की है, जिसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर।

ॐ अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र
नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और
समाजशास्त्रके प्रौढ़ विचारोंसे परिपूर्ण
सचित्र मासिक

सम्पादक
जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)
सरसावा जि० सहारनपुर

तृतीय वर्ष

[कार्तिकसे आश्विन, वीर नि०सं० २४६६]

संचालक
तनसुखराय जैन

व्यवस्थापक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
कनाट सर्कस, पो० बोक्स नं० ४८, न्यू देहली

वार्षिक मूल्य—
तीन रुपये

अक्टूबर
सन् १९४० ई०

एक किरणका मूल्य—
पाँच आने

'अनेकान्त' के तृतीय वर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक पृष्ठ

अकलंक-स्मरण—[सम्पादक १४१
अज-सम्बोधन (कविता)—श्री 'युगवीर' ९०
अतिप्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह —[पं० परमानन्द जैन शास्त्री २५६
अनुकरणीय—[व्यवस्थापक, कि०२ टा० ४, कि०५ टा० ४
अनुपम क्षमा—[श्रीमद् राजचन्द्र १७६
अनुरोध (कविता)—[श्री भगवत् जैन २८०
अन्धोंकी बस्ती (कविता)—[माहिर, कि० ३ टा० ४
अमर मानव—[श्री सन्तराम बी.ए. ५३३
अर्थप्रकाशिका और पं० सदासुखजी —[पं० परमानन्द शास्त्री ५१४
अहिंसा—श्री० वसन्तकुमार, एम. एस.सी. ३९०
अहिंसाका अतिवाद—[श्रीदरबारीलाल'सत्यभक्त' ४३०
अहिंसाकी कुछ पहेलियाँ—[श्रीकिशोरीलालमशरू. १६२
अहिंसाके कुछ पहलू—[श्री काका कालेलकर ४६१
अहिंसातत्त्व—[पं० परमानन्द शास्त्री ३१९
अहिंसासम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नावली --[विजयसिंह नाहर आदि ६०५
आग्रह (कविता)--ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न' ६४४
आत्मिक क्रान्ति—[बा० ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए.२८१
आत्मोद्धार-विचार—[श्री० अमृतलाल 'चंचल' ५७३
आलोचन—[श्री० 'युगवीर' ··· ··· ११९
आशा (कविता)—[श्री रघुवीरशरण, एम.ए. ६५९
उच्चकुल और उच्चजाति (महात्मा बुद्धके उदगार) [श्री. बी. एल. जैन कि०१० टा०३
उपासनाका अभिनय – [पं०चैनसुखदास न्यायतीर्थ४२६
उमास्वाति स्मरण—[सम्पादक ··· ३७७
उस दिन (कहानी)--[श्री भगवत् जैन ··· २१७
उस विश्ववंद्य विभूतिका धुँधला चित्रण --[श्री देवेन्द्र जैन ७७
ऊँचनीच-गोत्र-विषयक चर्चा--[श्री बालमुकन्द पाटोदी १६५, ७०७
एक महान् साहित्यसेवीका वियोग--[सम्पादक २६५

विषय और लेखक पृठ

क्या स्त्रियाँ संसारकी क्षुद्र रचनाओंमें से हैं? --[ललिताकुमारी जैन 'प्रभाकर' ५६६
गोत्रविचार—[जैनहितैषीसे उद्धृत १८६
गोम्मटसार एक संग्रह ग्रंथ है—[पं०परमानन्दशास्त्री२९७
गो०कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति—[पं०परमानन्द शास्त्री५३७
गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति के विचार पर प्रकाश —[पं० परमानन्द शास्त्री ७७५
गो० कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार ··· --[प्रो० हीरालाल एम.ए. ६३५
गो० कर्मकाण्डकी त्रुटि पूर्ति लेखपर विद्वानोंके विचार और विशेषसूचना—[सम्पादक ६२७
छोटे राष्ट्रोंकी युद्धनीति—[श्री काकाकालेलकर ४६५
जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती है— [श्री० ला० हरदयाल एम. ए. ३६०
जिनसेन-स्मरण—[सम्पादक ··· ···६७७
जीवन-साध (कविता) --[पं०भवानीदत्त शर्मा २८५
जैन और बौद्ध निर्वाणमें अन्तर --[प्रो० जगदीशचन्द्र एम. ए. २६१
जैनदर्शनमें मुक्ति साधना--[श्रीअगरचन्द नाहटा ६४०
जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार--- [श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री ३३
जैनधर्मकी विशेषता—[श्री सूरजभान वकील २२१
जैनधर्म-परिचय गीता-जैसा हो—[श्रीदौलतराम'मित्र'६५७
जैनलक्षणावली--[सम्पादक ··· ··· १२९
जैन समाजके लिये अनुकरणीय आदर्श —[श्रीअगरचन्द नाहटा २९३
जैनागमोंमें समयगणना--[श्रीअगरचन्द नाहटा ४९४
जैनियोंकी दृष्टिमें बिहार--[पं०के.भुजबली शास्त्री ५२१
ज्ञातवंशका रूपान्तर जाटवंश --[मुनि श्री कवीन्द्रसागरजी २३७
तत्वार्थधिगम भाष्य और अकलंक --[प्रो० जगदीशचन्द्र जैन एम. ए.३०४, ६२३,
तत्वार्थाधिगमभाष्य और अकलंक पर 'सम्पादकीय विचारणा'--[सम्पादक ··· ···३०७

विषय और लेखक पृष्ठ

तत्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति --[सम्पादक ··· १२१

तामिल भाषाका जैनसाहित्य --[प्रो० ए० चक्रवर्ती एम. ए. ४८७,५६७,७२१

दर्शनोंकी आस्तिकता और नास्तिकताका आधार --[पं० ताराचन्द जैन दर्शनशास्त्री ३५२

दर्शनोंकी स्थूलरूपरेखा--[पं० ताराचंद जैन ८२

दीपकके प्रति (कविता)--[श्री रामकुमार स्नातक' ५७२

देवनन्दि-पूज्यपाद-स्मरण —[सम्पादक ५५७

द्रव्यमन—[प० इन्द्रचंद्र शास्त्री ··· २५०

धर्मका मूल दुःखमें छुपा है—[श्री० जयभगवान वकील ··· ··· ४८२

धर्म बहुत दुर्लभ है—[श्री० जयभगवान वकील ५४५

धर्माचरणमें सुधार- [श्री बा० सूरजभान वकील ३८५

धवलादिश्रुत-परिचय-[सम्पादक ··· ३,२०७

नर-कंकाल (कविता) [श्री भगवत् जैन ४७

नवयुवकोंको स्वामी विवेकानन्दके उपदेश [डा. बी. एल. जैन पी. एच. डी. ५६६

नृपतुंगका मतविचार [श्री एम. गोविन्द पै ५७८,६४५

परम उपास्य (कविता) श्री 'युगवीर' कि०१ टा०३

परमाणु (कविता) [पं० चैनसुखदास, ४४०

परवार जातिके इतिहास पर कुछ प्रकाश [पं० नाथूराम प्रेमी ४४१

परिग्रहपरिमाण व्रतके दासी दास गुलाम थे [पं० नाथूराम प्रेमी ५२६

पंडितप्रवर आशाधर[पं०नाथूरामजी प्रेमी ६६६,६६७

पात्रकेसरी स्मरण [सम्पादक ··· ४८१

पुरुषार्थ (कविता) [श्री मैथिलीशरण गुप्त २०६

प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों ? [श्री दौलतराम 'मित्र' ६९०

प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र [सम्पादक ३९३,४३३

प्रभाचन्द्र-स्मरण [सम्पादक··· ३१७

प्रश्न (कविता) श्री 'रत्नेश' विशारद ४१०

प्राकृत पंचसंग्रहका रचनाकाल [प्रो० हीरालालजैन एम. ए. ४०९

प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा [सम्पादक ६६६, ७२९

फूलसे (कविता) [श्रीघासीराम जैन कि०८-९ टा१

बढे चलो--[बा० माईदयाल जैन बी.ए. ३१८

बंगीय विद्वानोंकी जैन साहित्यमें प्रगति—[श्रीअगरचंद नाहटा १४९

बावलीघास--[श्री हरिशंकर शर्म्मा ५१०

बुद्धि हत्याका कारखाना--['गृहस्थ' से उद्धृत १६४

बौद्ध तथा जैनग्रंथोंमें दीक्षा[प्रो० जगदीशचंद्रएम.ए. १४३

भगवान महावीर और उनका उपदेश-- [श्री बा० सूरजभानजी वकील ३६९

भगवान महावीरके शासनमें गोत्रकर्म-- [श्री कामताप्रसाद २८

भारतीय दर्शनोंमें जैन दर्शनका स्थान—[श्री हरिसत्य भट्टाचार्य ४६७

भूल स्वीकार—[श्री सन्तराम बी. ए.... ५३५

मज़दूरोंसे राजनीतिज्ञ--[श्री माईदयाल बी. ए. ८०

मनुष्यजातिके महान् उद्धारक --[श्री, बी. एल, सर्राफ ३२५

मनुष्योंमें ऊँचता-नीचता क्यों ?--[श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य ५१

महावीर-गीत (कविता)—[श्री शान्तिस्वरूप जैन 'कुसुम' ३८९

मातृत्व (कहानी)—[श्री 'भगवत्' जैन··· ७२

मानवधर्म (कविता) [श्री 'युगवीर'··· ३०३

मीन संवाद (कविता)—[श्री 'युगवीर'··· ४०

मेंडकके विषयमें एक शंका—[श्रीदौलतराममित्र ७१८

मोक्षसुख—[श्रीमद् राजचन्द्र···· ४०७

यति-समाज—[श्री अगरचन्द नाहटा ४९८

यापनीय साहित्यकी खोज–[श्री नाथूराम प्रेमी ५९

राग—[श्रीमद् राजचन्द्र······ १५६

वास्तविक-महत्ता—[श्रीमद् राजचन्द्र··· २३६

विद्यानन्दकृत सत्यशासनपरीक्षा [पं० महेंद्रकुमारजी शास्त्री ६६०

विद्यानन्द स्मरण [सम्पादक २६९

विषय और लेखक पृष्ठ

विधवा-सम्बोधन—[श्री० 'युगवीर' ···· १४७
विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है—[श्रीमद् राजचन्द्र ··· ११८
विविध प्रश्न—[श्रीमद् राजचन्द्र ··· ३२,७९,८१,८९
विवेकका अर्थ—[श्रीमद् राजचन्द्र ··· १२०
वीतराग-प्रतिमाओंकी अजीव प्रतिष्ठा विधि—[श्री सूरजभान वकील १०५
वीरका जीवन-मार्ग—[श्रीजयभगवान जैन वकील ४१४
वीरके दिव्य उपदेशकी एक झलक—[श्री जयभगवान वकील ६५
वीर नतुआ (कहानी)—[पं०मूलचन्द जी'वत्सल' ३३९
वीर प्रभुकी वाणी (कविता)—[श्री 'युगवीर'कि०१टा०३
वीरशासनकी पुण्य बेला—[श्रीसुमेरचन्द दिवाकर ४८
वीरशासनकी विशेषता—[श्रीअगरचन्द नाहटा ४१
वीरशासन-जयन्ती-उत्सव—[पं० परमानन्द शास्त्री कि० ८-९ टा० ३
वीरशासन दिवस और हमारा उत्तरदायित्व—[श्री दशरथलाल जैन ९१
वीरशासनमें स्त्रियोंका स्थान—[श्री इन्दु कुमारी 'हिन्दीरत्न' ४५
वीरशासनाभिनन्दन—[सम्पादक ··· २
'वीरशासनांक' पर सम्मतियाँ—[२३५,२९२,२९६
वीर-श्रद्धाञ्जलि—[श्री रघुवीरशरण एम. ए. ४०८
वीरसेन-स्मरण—[सम्पादक ······ ६२१
वीरसेवामन्दिरको सहायता—[अधिष्ठाता कि०६टा० ४, कि० ८-९ टा० ४ कि० १२ टा०२
वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालाको सहायता—[अधिष्ठाता कि०१टा० ३
वीरसेवामन्दिर-विज्ञप्ति-[अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' ७५५
वीर-स्तवन—[श्री बसन्तीलाल न्यायतीर्थ कि०६टा०१
वीरोंकी अहिंसाका प्रयोग—[श्री महात्मा गांधी ६०७
शिकारी (कहानी)—[श्री 'भगवत्' जैन २७७
शिक्षा (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न' ६५६
शिक्षित महिलाओंका अपव्यय—[श्री ललिता कुमारी जैन 'प्रभाकर' ६८५
श्री कुन्दकुन्द-स्मरण—[सम्पादक ······ ४२५

विषय और लेखक पृष्ठ

श्रीपालचरित्र-साहित्यके सम्बन्धमें शेष ज्ञातव्य—[श्री अगरचन्द नाहटा ४२७
श्रीभद्रबाहु स्वामी—[मुनि श्री चतुरविजय ६७८
श्रीवीर स्मरण—[सम्पादक १
श्रीशुभचन्द्राचार्यका समय और ज्ञानार्णवकी एक प्राचीन प्रति—[पं० श्री नाथूराम 'प्रेमी' २७०
श्वेताम्बर कर्मसाहित्य और दिगम्बर पंचसंग्रह—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री ३७८
श्वेताम्बर न्यायसाहित्यपर एक दृष्टि[पं०रतनलाल १७७
सत्य अनेकान्तात्मक है—[श्री जयभगवान वकील १७
सफलजन्म (कविता)—[श्री भगवत् जैन ४४
सफेद पत्थर अथवा लालहृदय—['दीपक'से उद्धृत ५७७
सम्पादकीय (टिप्पणियां) ··· ६९५
सम्बोधन (कविता)—[ब्र० प्रेमसागर 'पंचरत्न' २८३
सरल योगाभ्यास—[श्री हेमचन्द मोदी ३४१
संसारमें सुखकी वृद्धि कैसे हो ?—[श्री दौलतराम ३९२
सामायिक-विचार—[श्रीमद् राजचन्द्र कि० ४ टा० ३
साहित्य-परिचय और समालोचना —[सम्पादक ९८, २००, ३१२, ३७४ कि० ६ टा० ३
साहित्य-सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन दर्शन—[पं० रतनलाल संघवी ५६, ४११,
सिद्धसेनके सामने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक—[पं० परमानन्द जैन शास्त्री ६२९
सिद्धसेन-स्मरण—[सम्पादक ······ २०५
सुधार संसूचन—[सम्पादक ······ २१६
सुभाषित—······७६, कि० १ टा०४, कि० ४ टा० ४
स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य—[श्रीमद् राजचन्द्र २७
हम और हमारा यह सारा संसार—[बा० सूरजभान वकील ५५९
हरिभद्रसूरि—[पं० रतनलाल संघवी २८६,३२९
हिन्दी साहित्य सम्मेलन और जैन दर्शन—[पं० सुमेरचन्द जैन, न्यायतीर्थ २८४
होलीका त्यौहार—[सम्पादक ··· ··· ३५०
होली है ! (कविता)—[श्री 'युगवीर' ··· ३५९
होली होली है ! (कविता)—[श्री 'युगवीर' ··· ३५१

ॐ अर्हम्

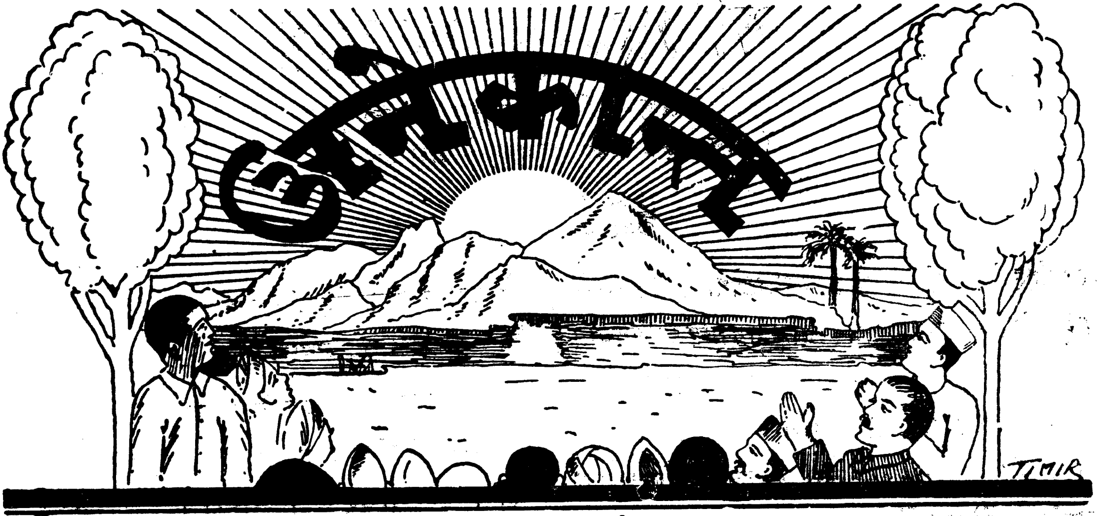

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | किरण १२
सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि०सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यू देहली
आश्विनआ-कार्तिक वीरनिर्वाण सं०२४६६, विक्रम सं ०१६६७

जिनसेन-स्मरण

जिनसेनमुनेस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते।
शलाकापुरुषाः सर्वे यद्वचोवशवर्तिनः ॥

—पार्श्वनाथचरिते, वादिराज सूरिः

सम्पूर्ण शलाकापुरुष जिनके वचनके वशवर्ती हैं—जिन्होंने महापुराण लिखकर ६३ शलाका पुरुषोंको (उनके जीवन वृतान्तको) अपने अधीन किया है—उन **श्री** जिनसेनाचार्यका माहात्म्य कौन वर्णन कर सकता है ? कोई भी नहीं ।

याऽमिताऽभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिसंकीर्त्तयत्यसौ ॥

—हरिवंशपुराणे, जिनसेनः

'पार्श्वाभ्युदय' काव्यमें पार्श्वजिनेन्द्रकी जो अपूर्व गुणसंस्तुति है, वह श्री जिनसेन स्वामीकी कीर्तिका आज भी संकीतन—खुला-गान कर रही है ।

यदि सकलकवीन्द्र-प्रोक्तसूक्त-प्रचार श्रवण-सरसचेतास्तत्त्वमेव सखे ! स्याः ।
कविवर जिनसेनाचार्य-वक्तारविन्द-प्रणिगदित-पुराणाकर्णनाभ्यर्ण कर्णः ।

—कश्चिदज्ञातकविः

हे मित्र ! यदि तुम सम्पूर्ण कवि श्रेष्ठोंकी सूक्तियोंके प्रचारको सुन कर अपना हृदय सरस बनाना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्यके मुख कमल द्वारा कथित पुराणको सुननेके लिये कानोंको समीप लाओ—'आदिपुराण' को ध्यानपूर्वक सुनो ।

श्रीभद्रबाहु स्वामी

[लेखक—मुनि श्री चतुरविजयजी]

(अनुवादक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

तत्त्वार्थरत्नौघविलोकनार्थं सिद्धान्तसौधान्तरहस्तदीपाः
निर्युक्तयो येन कृताःकृतार्थस्तनोतु भद्राणि स भद्रबाहुः।

—मुनिरत्न, अममचरित्र

श्री भद्रबाहुस्वामी समर्थ तत्ववेत्ता हो गये हैं। इनकी साहित्य-सेवा जैन समाजको गौरवास्पद बनाती है, जैनागमोंको अलंकृत करने वाली उनकी रची हुई निर्युक्तियोंको देखकर विद्वज्जन मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। ऐसे महापुरुषके जीवन-सम्बन्धमें दो शब्द लिखनेका आज सुअवसर प्राप्त हुआ, और वह भी आसन्नोपकारी श्रीविजयानन्द सूरीश्वर जैसे पुनीत महात्माके शताब्दीस्मारक ग्रन्थ[*] के लिये, यह बात मुझे अत्यन्त आनन्द प्रदान करती है।

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, सभी कोई श्रीभद्रबाहुको मानते हैं, और दोनों ही पक्षके अनेक विद्वानों द्वारा थोड़े-बहुत फेरफारके साथ लिखा हुआ इनका जीवनचरित्र संख्याबद्ध ग्रन्थोंमें देखने में आता है और जैनसमाजका अधिकांश भाग उससे परिचित होनेके कारण उसको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु भद्रबाहु नामके दो व्यक्ति भिन्न भिन्न समयोंमें हो गये हैं, उन दोनोंकी उलझी हुई जीवन घटनाओंके सुलझानेके लिये ही मेरा यह प्रयास है।

आज तक उपलब्ध जैनवाङ्मयकी ओर दृष्टि दौड़ानेसे किसी भी स्थल पर दूसरे भद्रबाहुका उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता[‡]। पूर्वकालीन [❀]

---

[*] इसी 'जन्म शताब्दीस्मारक ग्रन्थ' में यह लेख गुजराती भाषामें मुद्रित हुआ है, और उसी परसे उसका यह अनुवाद किया गया है। —अनुवादक

[‡] यह कथन श्वेताम्बर जैन वाङ्मयकी दृष्टिसे जान पड़ता है; क्योंकि दिगम्बर जैन वाङ्मयमें बराबर दो भद्रबाहुओंका उल्लेख मिलता है।

—अनुवादक

[❀] वंदामि भद्दबाहुँ पाईणं चरमसयलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ॥

दशाश्रुतस्कंधचूर्णि पी० ४, १००

पंचकल्पभाष्य-संघदासगणि, पी०४, १०३

अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्यस्तान् सर्वानिति।

—शीलांकाचार्य, आचारांगवृत्ति

अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी।
एक्कारअंगसुत्तधारए सव्वसाहू य ॥

ओघनिर्युक्ति गा० १

इस गाथामें दशपूर्वी वगैरहको नमस्कार करनेसे निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वी नहीं हैं, ऐसा मालूम होता है और इसीलिये टीकाकार शंका उठा

ग्रन्थकार तो एक ही व्यक्ति मानकर हर एक प्रसंगको पंचम श्रुतकेवलीके नाम पर ही बतलाते हैं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे देखते हुए और अनेक इतर साधनों द्वारा सूक्ष्मावलोकन करते हुए आधुनिक विद्वानोंको भद्रबाहु नामके दो भिन्न व्यक्ति मालूम होते हैं †।

आद्य भद्रबाहु श्री यशोभद्रसूरिके शिष्य थे, चतुर्दशपूर्वधर (पंचमश्रुतकेवली) थे, मौर्यवंशीय† चन्द्रगुप्तके समयमें हुए थे, और उन्होंने वीर निर्वाण दिवससे १७० वें वर्षमें देवलोक प्राप्त किया था ‡। इनके जीवन विषयमें मेरी धारणाके अनुसार प्राचीनसे प्राचीन उल्लेख परिशिष्टपर्वमें दृष्टिगोचर होता है। उसमें श्री स्थूलभद्रको पूर्वकी वाचना देनेकी हक़ीक़त है परन्तु निर्युक्ति वगैरह ग्रन्थों तथा वराहमिहरके सम्बन्धमें नाम निशान भी नहीं हैं। यदि निर्युक्तियाँ वगैरह उनकी कृति होतीं तो समर्थ विद्वान् श्रीहेमचन्द्राचार्य उनका उल्लेख किये बिना नहीं रहते।

दूसरे भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीमें हो गये हैं, वे जातिसे ब्राह्मण थे, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहर इनका भाई था; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसके शिष्य थे। निर्युक्तियां आदि सर्वकृतियाँ इनके बुद्धिवैभवमेंसे उत्पन्न हुई हैं।

प्राचीन मान्यताके अनुसार निर्युक्तिकारको चतुर्दशपूर्वधर कहा जाता है, परन्तु आवश्यक

ता है कि—'*भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपर्वधरत्वाद्दशपर्वधरादीनां न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति?* परन्तु उस समय ऐतिहासिक साधनोंकी दुर्लभता होनेके कारण पारंपरिक प्रघोषके अनुसार निर्युक्तिकारको चतुर्दशपूर्व धरत्वकी कल्पना कर यथामति शंकाका समाधान करता है। वह अप्रस्तुत होनेसे यहाँ नहीं लिखा जाता।

दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता।

मलयगिरी, पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति

अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधुवर्गस्य नित्योपयोगितांच विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीभद्रबाहु स्वामिना तद्व्याख्यानरूपा 'आभिनिबोहियनाणं सुअनाणं चेव ओहिनाणं च, इत्यादि प्रसिद्धग्रंथरूपा निर्युक्तिः।

—मलधारी हेमचन्द्रसूरि-विशेषावश्यकवृ०

† देखो इतिहासप्रेमी मुनि कल्याणविजयजी द्वारा लिखी हुई 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन कालगणना' नामकी हिन्दी पुस्तक, तथा न्या० व्या० तीर्थ पं० बेचरदास जीवराज-द्वारा संशोधित पूर्णचन्द्राचार्य-विरचित उपसग्गहरं स्तोत्र लघुवृत्ति—जिनसूरमुनिरचित प्रियंकरनृपकथा समेत—में की प्रस्तावना (शारदाविजय-ग्रन्थमाला, भावनगर द्वारा प्रकाशित)।

† चन्द्रगुप्तका राज्यारोहणकाल वीर-निर्वाणसे १५५ वें वर्ष में है। देखो, परिशिष्टपर्व सर्ग ८ वें का निम्नलिखित श्लोक--

एवं च श्रीमहावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पंचपंचाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥

‡ *वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्त्यग्रे गते सति।*
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥

परि० स० ९, श्लोक ११२

निर्युक्तिकी २३० वीं गाथामें श्री वज्रस्वामीका* और २३२ वीं गाथामें अनुयोगपृथक्करणसम्बन्धमें आर्यरक्षितका ‡ उल्लेख आता है ❀।

इसके बाद निन्हवपरक वर्णन करते हुए महावीर निर्वाणसे ४०९ वर्ष पीछे बोटिक (दिगम्बर) मतकी उत्पत्ति बतलाई है। वह इस प्रकार है:—

बहुरय पएस अव्वत्त सामुच्छा दुग तिगे अबद्धियाँ चेव।
एएसिं निग्गमणं वोच्छं अहाणुपुव्वीए ॥ २३५ ॥
बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्तासाढाओ सामुच्छे अस्समित्ताओ ॥ २३६ ॥
गंगाओ दोकिरिया छल्लुग्ग तेरासियाण उप्पत्ती।
थेराय गोट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति ॥ २३७ ॥
सावत्थी उसभपुरं सेयंबिया मिहिल उल्लुगतीरं।
पुरिमंतरंजिया दसरह वीरपुर च नयराइं ॥ २३८ ॥
चौदस सोलसवासा चोद्दसवीसुत्तरा य दुण्णिसया।
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया य चोआला ॥ २३९ ॥
पंचे सया चुलसीओ छच्चेव सया नवुत्तरा हुंति।
नाणुप्पत्तीए दुवे उप्पन्ना निव्वुए सेसा ॥ २४० ॥

—गाथा इत्यादि

अर्थ—(१) भगवान महावीरको केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे १४वर्ष पीछे श्रावस्ती नगरीमें जमाली आचार्यसे बहुरत निन्हव हुआ। (२) भगवानकी ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् १६वें वर्षमें ऋषभपुर नगरमें तिष्यगुप्त आचार्यसे छेल्ला प्रदेशमें जीवत्व मानने वाला निन्हव हुआ। (३) भगवानके निर्वाणके २१४ वर्ष पीछे श्वेताम्बिका नगरीमें आषाढाचार्यसे अव्यक्तवादी निन्हव हुआ। (४) भगवानके निर्वाणके २२० वर्ष पीछे मिथिला नगरीमें अश्वमित्राचार्यसे सामुच्छेदिक निन्हव हुआ। (५) निर्वाणसे २२८ वर्षमें उल्लुकाके तट पर गंगाचार्यसे द्विक्रिय निन्हव हुआ। (६) निर्वाणसे ५४४ वर्ष पीछे अंतरंजिका नगरीमें षडुलूकाचार्यसे त्रैराशिक निन्हव हुआ। (७) निर्वाणसे ५८४ वर्ष पीछे दशपुर नगरमें स्पृष्टकर्मके प्ररूपक स्थविर गोष्ठामाहिलसे अबद्धिक निन्हव हुआ। (८) और आठवां बोटिक (दिगम्बर) निन्हव रथवीरपुर नगरमें भगवानके निर्वाणके ६०९ वर्ष पीछे हुआ। इस प्रकार भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे दो, और निर्वाणके पीछे छह ऐसे आठ निन्हव हुए।

इससे भी निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामीके पंचमश्रुतकेवलीसे भिन्न होनेका निश्चय होता है, क्योंकि पूर्व समयमें हुआ व्यक्ति भविष्यमें होने वालेके वास्ते 'अमुक वर्षमें अमुक हुआ' ऐसा प्रयोग नहीं

---

* वीर निर्वाण संवत् ४९६ (विक्रम सं० २६) में वज्रका जन्म, वीर नि० सं० ५०४ (वि० सं० ३४) में दीक्षा, वी० निर्वाण सं० ५४८ (वि० सं० ७८) में युगप्रधानपद और वी० नि० स० ५८४ (वि० सं० ११४ में स्वर्गवास हुआ था।

‡ वीर नि० सं० ५२२ (वि० सं० ५२) में जन्म, वीर नि० सं० ५४४ (वि० सं० ७४) में दीक्षा, वीर नि० सं० ५८४—(वि० सं० ११४ में युग प्रधानपद और वी० नि० सं० ५९७ (वि० सं १२७) में स्वर्गस्थ हुए थे। माथुरी वाचनानुसार वी० नि० सं० ५८४ में स्वर्गवास माना जाता है।

❀ आगमोदय समिति-द्वारा मलयगिरिकृत टीकासहित मुद्रित प्रतिमें ये गाथाएँ क्रमशः ७६९, ७७३ नं० पर पाई जाती। —अनुवादक

करता, इसलिये निर्युक्तिकार भद्रबाहुका समय वीर निर्वाणसे १७० वर्ष बाद नहीं हो सकता।

श्री संघतिलक सूरिकृत सम्यक्त्वसप्ततिका वृत्ति❀, श्री जिनप्रभसूरिकृत 'उपसर्गहरं' स्तोत्र-वृत्ति तथा मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्ध चिन्तामणि वगैरह श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें भद्रबाहुका प्रखर ज्योतिषी वराहमिहरके भाईके तौर पर वर्णन किया है। वराहमिहरके रचे हुए चार ग्रन्थ † इस समय उपलब्ध होते हैं। उनमें अन्तका ग्रन्थ खगोल शास्त्रका व्यावहारिक ज्ञान कराने वाला 'पंचसिद्धान्तिका' है। उसमें उसका रचनाकाल शक संवत् ४२७ बताया है।

देखो, उसकी निम्न लिखित आर्या—

सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्धस्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये॥

वराहमिहरका समय ईस्वी सन्‌की छठी शताब्दी है (५०५ से ५८५ तक)। इससे भद्रबाहुका समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।

श्री भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति वगैरह किसी भी ग्रन्थमें अपना रचनाकाल नहीं बताते हैं; मात्र कल्प सूत्रमें—

*समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सवदुक्खप्पहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं, दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ। * वायणंतरे पुण अयं ते णउए संवच्छरे काले गच्छइ।* (सूत्र *१४८*)

❀ *तत्थ य चउदस विज्जाठाणपारगो छक्कम्मम्मविऊ 'पयईए' भद्दओ 'भद्दबाहू' नाम 'माहणो हुत्था। तस्स य परमपिम्म सरिसीरुहमिहरो वराहमिहरो नाम सहोयरो।*

—संघति० सम्यक्त्व सप्त०

वराहमिहरका जन्म उज्जैनके आसपास हुआ था। इसने गणितका काम ई० सन् ५०५ में करना प्रारम्भ किया था और इसके एक टीकाकारके कथनानुसार उसका ई० स० ५८७ में मरण हुआ था।

—प्रो० ए० मेक्डानल्ड-संस्कृत साहित्यका इतिहास ५६४

† **बृहत्संहिता** (जो १८६४-१८६५ की Bibiothica Indiea में कर्नने प्रसिद्ध की है और Journal of Asiatic Society की चौथी पुस्तकमें इसका अनुवाद हुआ है। इसी ग्रन्थकी भट्टोत्पलनी टीकाके साथकी नई आवृत्ति १८९५-९७ में एस० द्विवेदीने बनारसमें प्रसिद्ध की है)। **होराशास्त्र** (जिसका मद्रासके सी० आयरने १८८५ में अनुवाद किया है)। **लघुजातक** (जिसके थोड़े भागका वेबर और जेकोबीने १८७२ में भाषान्तर किया है) और पंचसिद्धान्तिकाको बनारसमें थीवो और एस. द्विवेदीने १८८९ में प्रसिद्ध किया है और उसके मोटे भागका अनुवाद भी किया है।

* इस वाक्यका अर्थ कल्पसूत्रके टीकाकार भिन्न-भिन्न रीतिसे उत्पन्न करते हैं। परन्तु ठीक हकीकत तो ऐसी मालूम होती है कि उस समय विक्रम सम्वत् ५१० चालू होगा, और उस विक्रमके राज्यारोहण दिवससे तथा सम्वत्सरकी प्रवृत्तिदिवससे गणना सम्बन्धी मत भेद होगा। श्री महावीर प्रभुके निर्वाणसे ४७० वर्षमें विक्रम राजा गद्दी पर बैठा, उसके बाद १३ में वर्ष में सम्वत्सर प्रवर्त्ताया था, इसलिये विक्रम सम्वत्‌में ४७० जोड़नेसे वीर सं० ९८० आता है और ४८३ जोड़नेसे ९९३ वर्ष आता है। इस बातके समर्थनके लिए देखो, कालिकाचार्यकी परम्परामें होने वाले श्रीभावदेवसूरि द्वारा रचित कालिकाचार्यकी कथाको निम्नलिखित गाथाएं—

इस प्रकार उल्लेख देखनेमें आता है, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है। हम इस ग्रन्थको यदि इनकी प्राथमिक कृतिके रूपमें मानलें, तो आचार्यश्रीने अपनी १५ वर्ष लगभगकी किशोर अवस्थामें ग्रन्थरचना की शुरुआत की होगी और—

तेहिं नाणबलेण बराहमिहरवंतरस्स दुचिट्ठं नाऊणसिरिपाससामिणो 'उवसग्गहर'थवणं काऊणसंघकए पेसियं —संघति०-सम्यक्त्वस०

इस वर्णनकी तरफ लक्ष्य खींचनेसे वराहमिहरके अवसान (ई० सं० ५८५) के चार पाँच वर्ष बाद तक आचार्यश्री जीवित रहे होंगे, ऐसा मानिए तो इनकी कुल आयु १२५ वर्षसे ऊपर और १५०के बीचकी निर्धारित की जा सकती है। परन्तु इतनी लम्बी आयुके लिये शंकाको ठीक स्थान मिलता है।

वराहमिहरने ई० स०५०५ से गणितका काम करना प्रारम्भ किया और वह ई० स० ५८७ तक जीवित था, उसने लगभग १५-२० वर्षकी अवस्थामें यदि कार्य प्रारम्भ किया हो तो उसकी उम्र भी १०० वर्षसे ऊपरकी कल्पित की जा सकती है। श्री भद्रबाहु उससे बीस तीस वर्ष बड़े हों तो उपर्युक्त आयुका मेल बराबर बैठ जाता है। परन्तु प्रबन्धचिन्तामणिकार (मेरुतुंगाचार्य) इनको लघुबन्धुका विशेषण† देता है।

इससे उम्र सम्बन्धी शंका फिर विशेष मजबूत हो जाती है।

वीर निर्वाण संवत् ९८० (वाचनांतर ९९३) वर्षमें देवर्द्धिगणि❀ क्षमा श्रमणने पुस्तक लिखवाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ की, उस समय उसने यह स्थविरावली (पट्टावली) बनाई है, ऐसा भी मानने में आता है। परन्तु यह मान्यता दोष रहित नहीं है। दूसरेके किये हुए ग्रन्थमें दूसरेके प्रकरण वगैरह को जोड़नेमें उस ग्रन्थकी महत्ताको हानि पहुँचती है, ऐसा कार्य शिष्ट पुरुष कभी भी नहीं करते। थोड़े समयके लिये हम स्थविरावलिको देवर्द्धिगणि-क्षमाश्रमण कृत मान भी लें तो फिर उसके अन्तमें दी हुई—

सुत्तत्थरयणभरिये खमदममद्दवगुणेहि संपुण्णे।
देवड्डि खमासमणे कासवगुते पणिवयामि॥

इस गाथाकी क्या दशा होवे? कोई भी विद्वान स्वयं अपने लिये ऐसे शब्दोंको क्या उच्चारण करेगा? इसलिये यह गाथा जरूर अन्यकृत माननी पड़ेगी।

विक्कमरज्जरम्भा पुरओ सिरिवीरनिव्वुइ भणिया।
सुन्नमुणिवेय(४७०) जुत्तं विक्कमकालाउ जिणकालं
विक्कमरज्जाणंतर तेरसबासेसु (१३) वच्छरपत्ती।
सिरिवीरमुक्खओ सा चउसयतेसीइं (४८३)वासाउ
जिणमुक्खा चउवरिसे(४)पणमरओ दूसम उयसंजाओ
अरया चउसयगुणसी (४७९) वासेहिं विक्कमं वासं॥

† *श्रीभद्रबाहुनामानं जैनाचार्यं कनीयांसं सोदरम्।*
—प्रबन्धचि० सर्ग ५

❀ *एतत्सूत्रं श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः प्रक्षिप्तमिति क्वचित् पर्यूषणाकल्पाव चूर्णौ, तदभिमात्रेण श्रीवीरनिर्वाणात नवशताशीतिवर्षातिक्रमे सिद्धान्तं पुस्तके न्यसद्भिः श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः श्रीपर्यूषणाकल्पस्यापि वाचना पुस्तके न्यस्ता तदानीं पुस्तकलिखनकालज्ञापनायैतत् सूत्रं लिखितमिति।*
—कल्पदीपिका (सं० १६७७) जयविजय

पूरा ग्रन्थ कोई रचे (बनावे) और बीचमें प्रकरण अन्य जोड़े तथा उसके लिये उल्लेख तीसरा व्यक्ति करे तो यह क्या सम्भवित मालूम होता है? इसलिये मेरी धारणाके अनुसार तो मूल ग्रंथ और उसकी अन्य गाथा तक स्थविरावली यह सब एक ही व्यक्ति (दूसरे भद्रबाहु) की रचना है।

ग्रन्थकार उपर्युक्त गाथा लिखकर पट्टावलीकी समाप्ति करता है, इस कारण वह स्वयं श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणका शिष्य है, सतानीय है या अन्य वंशका है, इसके लिये अधिक ऊहापोह करनेकी आवश्यकता है।

इनके रचे हुए ग्रन्थ

१ आचारांग निर्युक्ति †
२ सूत्रकृतांग ,,
३ दशवैकालिक ,,
४ उत्तराध्ययन ,,
५ आवश्यक ,,
६ सूर्यप्रज्ञप्ति ,, ‡
७ ऋषिभाषित निर्युक्ति *
८ पिंड † ,,
९ ओघ ,,
१० संसक्त ,,

निर्युक्ति तथैव मूल ग्रन्थ भी खुदके बनाये हुए हैं—

११ बृहत्कल्प ‡
१२ व्यवहार
१३ दशाश्रुतस्कंध ×
१४ भद्रबाहुसंहिता ❁
१५ ग्रहशान्ति स्तोत्र
१६ उवसग्गहरं स्तोत्र ✿

---

† अपनी रची हुई निर्युक्तियोंके नाम ग्रन्थकार स्वय इसप्रकार बतलाते हैं—

आवस्सय दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सुयगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्स य परमणिउणस्स।
सूरियपन्नतीए वोच्छं इसिभासियाण च॥

आवश्यक नि० गा० ८२, ८३

‡ यह निर्युक्ति इस समय उपलब्ध नहीं। देखो, निम्नलिखित उल्लेख

अस्या निर्युक्तिरभूत् पूर्वं श्रीभद्रबाहुसूरिकृता।
कलिदोषात् साऽनेशत् व्याचक्षे केवलं सूत्रम्॥

मलयगिरि-सूर्यप्रज्ञप्ति।

* इस समय उपलब्ध नहीं।

† *येनैषा पिण्डनिर्युक्तिर्युक्तिरम्याविनिर्मिता।*
द्वादशांगविदेतस्मै नमःश्रीभद्रबाहवे॥

—मलयगिरि, पि० नि० वृ०

‡ *श्रीकल्पसूत्रममृतं विबुधोपभोगयोग्यं-*
जरामरणदारुण दुःखहारि।
येनोद्धृतंमतिमतामथितात् श्रुताब्धेः
श्रीभद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्म तस्मै।

—क्षेमकीर्ति बृहत्कल्पटीका

× हालमें जो मंगलके निमित्त पर्यूषण पर्वमें वाँचा जाता है वह कल्पसूत्र इस ग्रन्थका आठवां अध्ययन है, इस विषयमें निश्चित प्रमाण नहीं।

❁ *तथान्यां भगवांश्चक्रे संहितां भद्रबाहवीम्।* इत्यादि कथन होनेसे इन्होंने स्पष्ट संहिता रची है यह ठीक, परन्तु हालमें जो भद्रबाहुसंहिता नामकी पुस्तक छपी है वह इन भद्रबाहुकी बनाई हुई नहीं है।

✿ यह ग्रंथ संस्कृत पद्यबद्ध है, इसका त्रुटित भाग हमारे देखनेमें आया है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कितने श्लोकप्रमाण होगा यह नहीं कहा जा सकता।

१७ द्वादशभाव-जन्मप्रदीप
१८ वसुदेवहिंडी ❋

इन सब ग्रन्थोंमें नियुक्तियाँ मुख्यस्थान रखती हैं।

इनका जन्म, दीक्षा, अवसानसमय तथा शिष्यादिसंतति जाननेके लिये मेरी दृष्टिमें आने वाले ग्रन्थोंमें कोई स्थल या साधन प्राप्त नहीं होते। आगमके अभ्यासी और इतिहासके वेत्ता कोई नवीन तत्त्व बाहर लावेंगे तो हम जैसोंके ऊपर उनका महान् उपकार होगा, ऐसी आशा रखकर विराम लेता हूँ।

❋ यह ग्रन्थ मूल प्राकृत भाषामें रचा हुआ सवा लाख श्लोक प्रमाण था ऐसा सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्यके गुरुदेव देवचन्द सूरि बतलाते हैं कि—

वंदामि भद्दबाहुँ जेण य अइरसिधबहुकहाकलियं।
रइयं सवायलक्खं चरियं वसुदेवरायस्स ॥

शान्तिनाथचरित्र, मंगलाचरण

तथा श्री हंसविजयजी जैन लायब्रेरीकी ग्रंथमाला तरफ से छपाई हुई नर्मदा सुंदरीकथाके अन्तमें—

इति हरिपितृहिण्डेर्भद्रबाहुप्रणीते विरचितमिह लोकश्रोत्रपात्रैकपेयं।
चरितममलमेतन्तमंदासुन्दरीयं भवतु शिवनिवास-प्रापकं भक्तिभाजाम् ॥ २४६ ॥

हालमें उपलब्ध वसुदेवहिण्डी तो संघदासक्षमाश्रमणने आरंभ की थी और धर्मसेनगणी महत्तरने पूरी की थी, उससे यह भिन्न होगी।

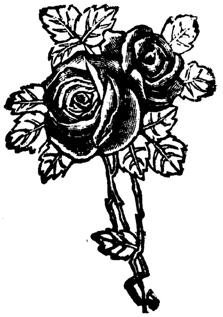

शिक्षित महिलाओंमें अपव्यय

[लेखिका—श्री ललिताकुमारी जैन विदुषी 'प्रभाकर']

बड़े बड़े अर्थ शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि एक कौड़ी भी निरर्थक खर्च करना अपने आत्मा, कुटुम्ब, देश व समाजसे विद्रोह करना है। असलमें यह है भी बिलकुल सत्य और स्पष्ट। अपव्यय (फिज़ूल खर्च) जहाँ तक इसका सासाँरिक धन-सम्पति और रुपये-पैसे से सम्बन्ध है अपने और समाज दोनों ही के लिए एक अभिशाप हैं। अपव्ययसे मनुष्य अनावश्यक भोग-विलासकी ओर प्रवृत्ति करता है, खोटी खोटी आदतें डाल लेता है, इन्द्रियोंको बेलगाम घोड़ेकी तरह निरर्थक विषयोंकी ओर दौड़नेके लिए विवश करता है तथा पाप और वासनाके लिए नये नये रास्ते खोजता रहता है।

अपव्ययी मनुष्य ज़रूरतके लिए खर्च नहीं करता बल्कि ख़र्च करनेके लिए नयी नयी अनावश्यक जरूरतें पैदा करता है। ऐसा देखा गया है कि फिज़ूल खर्च करने वाला जब किसी समय अपनी एक ज़रूरतको पूर्ण हुई देखता है तो तुरन्त उसके मनमें यह खयाल पैदा होता है कि खर्च करनेके लिए अब वह कौनसी ज़रूरत पैदा करे। इस तरह वह सदा कुछ न कुछ ख़र्च करने ही की धुनमें रहता है। वह कभी अपने आपको शान्त एवं स्वस्थ अनुभव नहीं करेगा। उसके दिमाग़में नयी नयी इच्छाएं और उनको पूरा करनेके लिए अपव्ययकी चालें चलित हुआ करेंगी। वह स्थिर होकर कभी अपने कर्तव्य और हितकी ओर विचार नहीं करेगा। उसे ऐसा करनेकी फुरसत ही कहाँ है? फिजूल खर्च करते करते जब उसके पास अपनी और अपने कुटुम्बकी अनिवार्य ज़रूरतोंके लिए भी पैसा न बचा रहा तो अन्याय पर उतर पड़ता है। वह दाव लग जाने पर दूसरोंका माल हड़प करनेमें भी नहीं चूकता और यदि कुछ चालाक हुआ तो विविध छल कपट व षड्यन्त्रोंसे दूसरेकी सम्पत्ति हरण करनेकी चेष्टा करता है। वह चोरीके लिए चित्त चलायमान करता है और उसके प्रयत्न करनेमें पकड़ा जाकर धर्म, समाज व कानून तीनों ही का अपराधी ठहरता है। लोकमें निन्दा होती है और परलोकमें बड़ी बड़ी यातनाएँ सहनेको मिलती हैं।

इसी तरह समाजके लिये भी अपव्यय बड़ा अनिष्टकर है। एकको अपव्यय करते हुए देखकर तथा फिज़ूलखर्चीसे नानावाहियात विनोद एवं रंगरेलियाँ करते हुए देखकर समाजके दूसरे व्यक्तिके मनमें भी वैसी ही चाह पैदा होती है। एक दूसरेके मनमें ईर्ष्या और जलनके भाव पैदा होते हैं। बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ हो जाती हैं। पार्टीबन्दियाँ हो जाती हैं। एक दूसरेके घमंड को चूर चूर करनेकी चेष्टा करता है और दूसरा अपने बड़प्पन और शान शौकतको सुरक्षित रखनेके लिए चिन्तित रहता है। तथा इसी कसाकसीमें रुपया

पानीकी तरह बहाना पड़ता हैं इससे व्यक्तियोंका भी पतन होता है और उनसे बनने वाले समाजको भी क्षति पहुँचती है। यदि मनुष्य अपने पैसेको अपने ही निरर्थक और क्षुद्र स्वार्थोंमें न खर्च करके समाज व देश के हितोंकी रक्षाके लिए उसका उपयोग करे तो फिर किसीकी धन-सम्पत्तिसे आपसमें जलन या ईर्ष्याके भाव पैदा होनेका अवसर ही न आवे। अपव्ययसे समाजमें पाप और अन्यायका प्रसार होता है तथा दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है। जो पैसा उपयोगी और उत्तम कार्योंमें लगना चाहिए था वह वाहियात और व्यर्थकी शान-शौकतमें खर्च किया जाता है। इससे समाज कमज़ोर और क्षुद्र बना रहता है। जिस समाजमें वाहियात फ़िज़ूलख़र्ची की जाती है वह दूसरे समाजोंके सामने-मुकाबलेमें खड़ा नहीं रह सकता और हर बातमें उसको नीचा देखना पड़ता है। उसका अपमान और तिरस्कार करना दूसरेके लिए एक खेलसा हो जाता है। क्योंकि समाजकी उन्नतिके बहुतसे उपायोंमें एक मुख्य उपाय उसमें रहने वाले व्यक्तियोंकी धन-सम्पत्ति और उसका समुचित उपयोग भी है। एक अर्थ शास्त्रविद्या विशारद पंडितने किसी जगह लिखा था कि किसी समाज या देशकी शक्ति और बलको मापनेका यन्त्र उसमें रहने वाले व्यक्तियोंकी सम्पत्तिका उपयोग है। अगर उनकी सम्पत्तिका उपयोग उत्तम और समयोपयोगी कार्योंमें होता है तो वह समाज भी उन्नत एवं व्यवस्थित है और यदि उसका उपयोग अनुचित रूपसे होता है तो उस समाजकी भींत भी बालू रेत पर खड़ी है जो जब कभी धक्का देकर गिराई जा सकती है।

इसी अपव्ययके अवगुणसे हमारी आधुनिक शिक्षित बहनें भी रहित नहीं हैं। यह देखनेमें आता है कि ज्यों ज्यों आधुनिक सभ्यता और शिक्षाका प्रसार होता जारहा है, शिक्षित महिला-समाजमें फिजूलखर्ची के नये नये तरीके ईजाद होते जा रहे हैं। यह तो सच है ही कि पुरानी चाल वाली माताओं व बहनोंमें कुछ ऐसे संस्कार पड़े हुए हैं कि वे पुरानी चालोंको चाहे वे कितनी ही खर्चीली क्यों न हों और चाहे उनमें होने वाले खर्चोंसे उनके घर कितने ही तबाह क्यों न हो जाएँ पर वह उन्हें छोड़नेके लिए किसी भी तरह तैयार नहीं हैं; पर हमारी आज कलकी बहनोंमें उनकी अपनी ही चर्यामें ऐसे छोटे छोटे सैंकड़ों ही निरर्थक अपव्यय के मार्ग पैदा हो गये हैं जिनसे भलीसे भली और सम्पन्न से सम्पन्न गृहस्थीका भी चकनाचूर हुए बिना नहीं रह सकता। इन वाहियात खर्चोंसे पुरुषोंके गाढ़े पसीनेसे कमाये हुए धनका ही नाश नहीं होता है बल्कि हमारी गृह देवियोंका सुन्दर जीवन भी भोग विलास और फैशनके साँचेमें इस तरह ढाल दिया जाता है कि वह न तो उनके अपने मतलबका ही रहता है और न समाज व देशके अर्थका ही।

आज कलकी बहनों में यदि पुरानी चालके गहनों का शौक कुछ कम हुआ तो नयी चालके गहनोंका शौक उससे भी अधिक बढ़ गया। गोखरू बँगड़ीके स्थान पर सोनेकी चूड़ियां पहनी जाने लगीं। बाली और कानके छल्लोंकी जगह नये नये इयरिंग काममें लिये जाने लगे। सरमें पात व वौरकी जगह विविध रंगरंजित क्लिपें दिखाई देने लगीं, जो रोज रोज या तो टूटती रहें और यदि बदकिस्मतीसे साबुत रह जायें तो फैशन बदल जानेसे बेकार जायँ। गलेमें सोनेकी कंठीके बिना तो गलेकी शोभा ही नहीं। रिस्टवाच और ज़ीरोपावरके चश्मेका शौक तो ऐसा बढ़ा है कि उसकी कोई हद नहीं। और अफ़सोस तो यह है कि घड़ीसे समयका सदुपयोग रत्तीभर नहीं किया जाता और

चश्मेसे' आंखोंका सर्वनाश करके भी उसका शौक पूरा किया जाता है। कुछ लिखनेकी आदत हो और मौके बेमौके कुछ लिखनेका काम पड़ जाता हो सो बात नहीं पर पारकर पेन जेबमें जरूर सुशोभित होना चाहिए। मेंहदीका स्थान क्यूटेक्सने लिया। नाकमें नथकी जगह पर बाज़ारू कांटोंने कब्जा किया। रोज काममें आने वाली जुल्फे बंगाल बहार, हेयर आइल, भूतनाथ तेल, कामिनिया बहार तेल, ठेठ लन्दनका बना कोकोनट हेयर आइल, जुल्फे बहार, लक्ससोप, पियर्स सोप, गोडरेज, हम्माम, सनलाइट सोप, हेयर क्रीम, हिमानी स्नो, हवाइट स्नो, पोण्ड्स क्रीम, कोल्ड क्रीम, वेसलीन, तरह तरहके सेण्ट, लवण्डर, गुलाबी पाउडर, टूथ पाउडर, ऐसी सैंकड़ों ही कमसे कम उपयोगी और अधिकसे अधिक खर्चीली चीजोंका स्टेशनके मालगोदामसे आने वाली गाड़ीमें जुते हुए बैलोंकी तरह भार ढोते ढोते घरके आदमियोंकी पीठ पर बल पड़ गये, पैरों फफोले हो गये और पाकिट पैसोंसे विद्वेष करने लगा, पर हमारी गृह देवियोंके द्वारा मौके-बेमौके, असमय, दिन और रात जब कभी भेंट हुई, पुरुषोंके साथ बरते जाने वाले—"देखिये न पाउडरका डिब्बा आज दो रोज़से खाली पड़ा है? और इस बार कोटेका एयर स्पन पाउडर लाइएगा, बड़ी तारीफ सुनी है उसकी।' 'अरे मुन्नू! जा वो तेरे बापूजी बाजार जा रहे हैं, उनसे कह, आते समय आज विलायती टूथ पाऊडर और क्रीम, स्नो, बिवेलिन हेयर आइल और कोई अच्छा सा विलायती सोप जरूर लेते आवें। पहले ही देशी तेल-साबुन लाकर रख दिया किसी कामका नहीं।' 'अजी सुना है बालोंके लिए विटेक्स और नाखूनोंके लिए क्यूटेक्स बड़ा अच्छा रहता है फिर वह जापानी हेयर क्रीम औ स्यूलनका जिवलटन क्यों काममें लिया जाय।' 'देखिएजी पाटन वालेका अफगान स्नो इस्तेमाल करते करते मैं तो थक चुकी इस बार रातके लिए पान्ड्सकोल्ड क्रीम और दिनमें लगानेके लिए पान्ड्स वेनिशिंग क्रीम लाइगा।' इस बेढङ्गे रवैयेमें कमी होना तो दूर रहा किन्तु हमारे घरोंकी जड़ोंको खोखला करनेके लिए इसकी चक्रवृद्धि ब्याजकी तरह दिन दूनी और चौगुनी बढ़वारी हो रही है। समाजका भला चाहने वाले नेताओंने हमारे सामाजिक फिजूल खर्चों पर गला फाड़ फाड़कर ताला लगानेकी कोशिश की तो इधर हमारी शिक्षित देवियोंने अपने मेक अप करनेके खर्च को बेशुम्मार बढ़ा दिया जो उससे भी खतरनाक और बेकाबूका हो रहा है। यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो आजकी पढ़ी लिखी साधारणसे साधारण हैसियत वाली बहनका सिर्फ बालों और मुँहके मेकअप करनेके खर्चोंमें कमसे कम १०) १५) रु० माहवार तो तेल, साबुन, क्रीम आदि चीजोंमें ही पड़ जाता है।

इसके अतिरिक्त कपड़े लत्तोंका खर्च देखिए? साड़ियां? उफ? एक से एक बढ़कर नित नयी पहनने को चाहिएँ। आज एक साड़ी खरीदी गई और कल जो यदि उसके डिजायनका फैशन बदल गया तो उसमें रुपये जो खर्च हुए वे सब बेकार गये। हैसियतके अनुसार एक एक साड़ीमें १०) १५) २५) ३०) ५०) १००) और इससे भी अधिक रुपया खर्च होता है। आजकल जारजटकी साड़ियोंका ऐसा सिलसिला बंधा है कि हर एकके घरमें दस पांच साड़ियां खरीदी ही जाती हैं। इन साड़ियोंमें पैसा तो अधिक खर्च होता ही है साथ ही इन्हें पहन कर बहनें अपने खास आभूषण लज्जासे भी बेखबर हो जाती हैं। सलूके, पेटीकोट, जम्पर आदिमें रोज नयी नयी कांट छाँट चलती रहती हैं जिनमें कीमती कपड़ा और सजावटका सामान

तो खर्च होता ही है, साथमें दरजीको दुगुनी तिगुनी सिलाई और देनी पड़ती है, वरना वे तत्काल ही ईजाद हुए फैशनसे रहित रह जायें। हाथमें कमसे कम १)१।) रुपयेका एक रेशमी रुमाल चाहिए जो एक बार पसीने पोछनें पर डस्टरके काम लिया जाने लगे और कर कमलों की शोभाके लिए तुरन्त ही ताजा रूमालके लिये आर्डर जारी हो जाय। कपड़ों में जी खोल कर तरह तरहके विलायती सेन्ट उँडेल दिए जाते हैं, जिनकी कीमत भारी भारी होती है और उपयोग रंचमात्र नहीं इसके अलावा सर्दीमें काम आने वाले बढ़ियासे बढ़िया स्वेटर, गुलूबन्द, जुर्राब, दस्ताने आदिका ऐसा अनावश्यक खर्च बढ़ा है कि हर जाड़ेमें प्रति घर १००) ५०) रु० खर्च होता ही है। वास्तवमें देखा जाय तो महिलाओं ने जो इनका उपयोग करना शुरु किया वह सर्दीसे बचनेके लिए नहीं किन्तु केवल फैशनके लिए किया है। हाँ, यह खुशीकी बात है कि अब अधिकांश बहनें इन चीज़ोंको हाथसे बुन कर काममें लेने लगी हैं। इससे खर्च भी कम करना पड़ता है और चीज़ भी चलाऊ तैयार होती है।

हमारी नये युगकी बहनोंको खाने पीनेकी वस्तुओं में भी अनावश्यक खर्च करना पड़ता है और साथ ही जरूरी संयमका भी ध्यान नहीं रक्खा जाता। सुबह उठे चायका एक कप जरूर चाहिए। नाश्ता करनेके लिए घरमें कौन चीज़ बना कर रक्खें। हाथसे बनाना तो सीखा ही कहाँ। फिर वही बाजारसे लिल्ली बिस्कुट ब्रिटेनिया बिस्कुटके डिब्बे मंगाये जाते हैं, जिनमें शुद्धता और संयमको तो लात मार दी ही जाती है किन्तु रुपया पैसा भी मिट्टीकी तरह बरतना पड़ता है। कोई मेहमान आया बाजारसे मिठाई मंगाली गयी। पैसे खर्च हुए तो पुरुषोंकी जेबसे और उनकी खुदकी रसोईमें धुआंधोरीसे बला हटी। कितना आराम रहा! बाजारू चाट, नमकीन मिठाई आदिसे पुरानी पद्धति वाली माताओंको इतनी नफरत है कि वे उनका नाम तक नहीं लेती किन्तु आजकल वाली बहनोंमें इनका शौक ऐसा बढ़ा है कि वे इनको बहुत ही अज़ीज़ समझ कर खाती हैं और धर्म तथा धन दोनों ही से हाथ धो बैठती हैं!

घरमें काम करनेको नौकर चाकर हैं और समाज सेवा, देश सेवा तथा साहित्य सेवासे लगन नहीं। आदमी सोये भी तो कितना सोये। ज्यादासे ज्यादा ७ घंटे रातमें और २ घंटे दिनमें समझ लीजिए। ३ घंटे भोजन करने आदिके और निकाल दीजिए। बचे हुए १२ घंटोंमें अब करे तो क्या करें? बस रेडियो और ग्रामोफोन! जो उन रसिक बहनोंको इश्क और ऐय्याशी के गन्दे गाने सुनाते रहें और उनके दिल और दिमाग को दूषित करते रहें। फिर ग्रामोफोनके रेकार्ड नित नये नये चाहिएं। एक रेकार्ड एक बार सुना और वह तबियतसे उतर गया। एक एक रेकार्ड होना भी चाहिए कमसे कम २॥) ३) का। वरना वह स्पष्ट आवाज़ नहीं दे। अगर महिने में १० रेकार्ड भी नये ख़रीद लिए जाते हो तो २५) ३०) रुपये माहवारका तो यही खर्च पल्ले बँध गया। दिन भर चक चक करने वाले रेडियोमें जो बिजली खर्च हुई वह तो शायद खयालमें आती ही नहीं है। और फिर दिन भर रेडियो और रेकार्डके निराकार गानोंको सुनकर भी तबियत ऊब उठी तो शामको सिनेमाकी सैर होती है। हैसियतके अनुसार १) २) रु० का टिकट खरीदा जाता है। साथमें रसिक सखी-सहेलियोंका होना भी आवश्यक होता है वरना अकेलेमें कोई दिलचस्पी नहीं। उनके टिकटोंका भार भी अपने ही ऊपर लेना होता है।

इस तरहके सैंकड़ों ही अनावश्यक और निरर्थक ख़र्च हैं, जो दिन पर दिन हमारी शिक्षित बहनोंमें बड़वानलकी तरह बढ़ रहे हैं। जिनको यदि रोका न गया तो वे सचमुच हमारे घरोंको जल्दी ही भस्मसात् कर देंगे। पुरुष रातदिन परिश्रम कर गर्मी, सर्दी, बरसात, धूप, भूख, प्यास, गुलामी आदिकी कठिन बाधाएँ सह कर बड़ी मुश्किलसे रुपया पैदा करें और हम बहनें आसानीके साथ हमारे क्षणिक आनन्दके लिए उसको ख़र्च करदें। यह हमारे लिए कितने भारी कलंक और शर्मकी बात है। अफ़सोस तो यह है कि हमारे देश में जो कुछ था वह तो पहले ही विदेशियोंने निकाल लिया किन्तु जो थोड़ा बहुत तन और पेटकी लाज रखने लायक इधर उधर चौमासेमें चमकने वाले आगियेकी तरह दिखाई दे रहा है वह भी हम इस तरह नष्ट भ्रष्ट कर हमारे देशकी सम्पत्तिका क्या कतई दिवाला निकाल बैठें, जो एक दिन ज़रूरी भोजन-वस्त्र मिलना भी दुर्लभ हो जाय? इस पर हमारी शिक्षित बहनोंको खूब ग़ौरके साथ विचार करना चाहिये और शीघ्र ही अपने अपने अनावश्यक तथा फैशनकी पूर्ति के लिये किये जाने वाले खर्चोंको घटाकर तथा बन्द करके अपनी, अपने समाजकी और अपने देशकी उन्नतिमें अग्रसर होना चाहिये। यही इस समय उनका मुख्य धर्म और ख़ास कर्तव्यकर्म है।

⁂

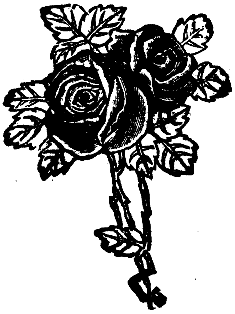

प्रथम स्वहित और बादमें परहित क्यों ?

[लेखक—श्री दौलतराम 'मित्र']

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥

—पंचाध्यायी, २-८०४

अर्थात्—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह (उपकार) करना चाहिये। परन्तु आत्म व्रतको—आत्माके हितकी बातको—छोड़कर दूसरोंके रक्षणमें—उन्हींके हितसाधनमें—तत्पर नहीं रहना चाहिये ।

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

---ग्रन्थान्तर-पंचा० २-८०५

अर्थात्—आत्महित (अपना हित) मुख्य कर्तव्य है। यदि सामर्थ्य हो तो परहित भी करना चाहिये। आत्महित और परहितका युगपत प्रसंग उपस्थित होने पर दोनोंमेंसे आत्महित श्रेष्ठ है, उसे ही प्रथम करना चाहिये ।

यह एक आदेशरूप आगमका कथन है, अतएव इसमें, ऐसा क्यों करना चाहिये, इस 'क्यों'के संतोष-लायक खुलासा नहीं है। और इस 'क्यों'रूपी दरबानको संतोष कराए बिना यह किसी बातको भीतर—गले नीचे—उतरने नहीं देता । अतएव इस लेखमें इसी 'क्यों' का खुलासा करना है । खुलासा यह है कि—

आत्मप्रबोधविरहादविशुद्धबुद्धेर्
अन्यप्रबोधनविधिं प्रति कोऽधिकारः ।
सामर्थ्यमस्ति तरितुं सरितो न यस्य
तस्य प्रतारणपरा परतारणोक्तिः ॥
कर्तुं यदीच्छसि पर-प्रतिबोधकार्यं
आत्मानमुन्नमते ! प्रतिबोधय त्वं ।
चक्षुष्मतैव पुरमध्वनि याति नेतुम्
अन्धेन नान्ध इति युक्तिमती जनोक्तिः ॥

—आत्मप्रबोध ४-५

अर्थ (पद्यमें)—

'आत्म-बोधसे शून्य जनोंको नहि परबोधनका अधिकार
तरण कलासे रहित पुरुषका यथा तरण शिक्षण निःसार
जो अभीष्ट पर-बोधन तुझको तो आत्मन् ! हो निजज्ञानी
नेत्रवान अन्धेको खेता, नहिं अन्धा, यह जग जानी"

इससे यह बात स्पष्ट होजाती है कि—किसीका प्रथम तिर जाना या ज्ञानी हो जाना यद्यपि स्वहित हुआ, तथापि वह है परहितके साधनरूप—उसमें सहायक; और ऐसा स्वहित-निरत व्यक्तिही परहित करनेमें समर्थ हो सकता है जो खुद ही रास्ता भूला हो वह दूसरोंको रास्ते पर क्या लगा सकता है ?

अब हित-अहित क्या हैं, और उनके कारण क्या हैं, इस पर विचार करें:—

यह तो सभी जानते हैं कि सुख 'हित' है और दुःख 'अहित' है[*] अतएव इनके कारण बतलाते हैं—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम् ।
वदंतीति समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥"

—अमितगति योगसार ६-१२ [†]

अर्थात—जो परवश (पराधीन) होना है वह सब दुःख है, और जो स्ववश (स्वाधीन) होना है वह सब सुख है, यह सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण है । और इसलिये आत्माके साथ कर्मका जो दृढ़ बन्धन है । जिसने आत्माको मूलतः पराधीन कर रक्खा है वह सब दुःखरूप है, और उस बन्धनसे जितना जितना छुटकारा मिलना (मुक्त होना) है वह सब सुखरूप है ।

अब कर्मबन्ध होनेका कारण बतलाते हैं—

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो बधः ॥

—पंचा० २-७५७

अर्थात्—रागादिक[‡] भावोंके होने पर अवश्य कर्मबन्ध होता है और उस कर्मबन्धके फलसे आत्माको दुःख होता है, इसलिए रागादिक भावोंसे अपने आत्माका घात होता है, यह बात सिद्ध है[†] ।

आत्मेतरांगिणामंगरक्षणं यन्मतं स्मृतौ ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परत्र यत् ॥

—पंचा० २-७५६

अर्थात्—आत्मासे भिन्न दूसरे प्राणियोंके शरीरकी रक्षाका जो विधान स्मृतिशास्त्रमें है, वह केवल अपनी ही रक्षाके लिये है, इससे वस्तुतः दूसरोंकी रक्षाकी बात कुछ नहीं है ।

भावार्थ—रागादिक भाव ही परहिंसा और और स्वहिंसा अथवा पर-अहित और स्व-अहित होनेके कारण हैं । और भी स्पष्ट कहा है—

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥

—पंचा० २-७५५

अर्थात्—रागादिक भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतच्युति है । और रागादिक-त्याग ही अहिंसा है, धर्म है, व्रत है ।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

—पुरुषार्थसि० ४४

अर्थात्—रागादिक भावोंका उत्पन्न न होना ही निश्चितरूपसे अहिंसा है, और उन्हीं रागादिक भावोंकी जो उत्पत्ति है वह हिंसा है, ऐसा जिन-सिद्धान्तका संक्षिप्त रहस्य है ।

सर्वतः सिद्धमेवैतद् व्रतं बाह्यं दयाऽङ्गिषु ।
व्रतमन्तःकषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥

—पंचा० २-७५३

---

[*] "दुःखोदर्कमिहाऽहितं सुखरसोदर्कं हितं तर्क्यताम्" ।

—आत्मप्रबोध, ३२

[†] सर्वं परवशं दुःखं सर्वं आत्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः ॥

—मनुस्मृति४-१६०

[‡] राग-द्वेष दोनों साथी हैं, जैसा कि पंचाध्यायीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

"यद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥" २-५४१

[†] " परदव्वरओ वज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं ।
एसो जिणउवदेसो समासदो बंध-मुक्खस्स ॥"

—मोक्खपाहुड १३

अर्थात्—यह बात सब प्रकारसे सिद्ध है कि प्राणियों पर दया करना 'बाह्यव्रत है' और कषायों का (रागादिकोंका) त्याग करना अंतर्व्रत है। तथा यही अन्तर्व्रत निजात्मापर दयाभाव कहलाता है।

इसी 'अन्तर्व्रत' को 'इंद्रिय निरोधसंयम' और 'बाह्यव्रत' को 'प्राणिरक्षणसंयम' भी कहते हैं। यथा—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नाऽसंयमाय तत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या सयमस्तन्निरोधनम् ॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥

—पंचा० २, ११२२-२३

अर्थात—इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह असंयम नहीं करता है‡ किन्तु इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्ध होने पर उस पदार्थमें जो राग द्वेष परिणाम होते हैं वे ही असंयमको करने वाले हैं। उन राग-द्वेष रूप परिणामोंको रोकना ही 'इन्द्रिय-निरोध-संयम' है। तथा त्रस और स्थावर जीवोंको मारनेके लिये मन वचन कायकी कभी प्रवृत्ति नहीं करना ही 'प्राणि संरक्षण' संयम है।

एक खुलासा और है कि अहिंसाधर्म—व्रत—के पालक दो तरहके होते हैं। यथा –

तस्याभावोनिवृत्तिः स्याद् व्रतं चार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥

--पंचा०२-७५२

अर्थात्—उस सावद्ययोग (अन्तर्बाह्य हिंसक उपयोग) के अभाव होनेका नाम ही निवृत्ति कहलाती है, उसीका नाम व्रत है। यदि सावद्ययोग की निवृत्ति अंश (अणु) रूपसे है तो व्रत भी अंश (अणु) रूपमें है, और यदि सावद्ययोगकी निवृत्ति सर्वांश (महान्) रूपमें है तो व्रत भी सर्वांश (महान्) रूपमें है।

भावार्थ—व्रतके पालकजन दो प्रकारके हैं, अणुव्रतके पालक गृहस्थ हैं जिनकी 'उपासक' संज्ञा है, और महान् व्रतके पालक वनस्थ हैं जिनकी 'साधक-साधु' संज्ञा है। †

तीन गुप्ति, पाँच समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय, पाँच चारित्र, और बारह प्रकारके तप, ये अंतर्व्रत प्रधान या निवृत्ति प्रधान महान् धर्मके अंग हैं।

औषधि, आहार, ज्ञानसाधन और अभय, इन

---

‡ दर्शन, ज्ञान और चारित्र 'बन्धके कारण नहीं, किंतु बंधका कारण राग है।

(देखो, पु० सि० श्लोक २१२ से २१४)

† गृहस्थके व्रतको 'अणुव्रत' कहनेसे यह नहीं समझना चाहिये कि—अणुव्रती गृहस्थको हिंसा स्वरूप पांच पाप अणुप्रमाण अंशमें करनेकी तो मनाई है और शेष अंशमें करनेकी छुट्टी है। ऐसा समझ लेने या प्रगट होनेसे तो हम दो तरहसे अपना अहित कर बैठेंगे। एक तो हम पंच पाप करनेमें अधिकांशमें प्रवृत्त हो जायेंगे, दूसरे राजन्यायालय हमारी ज़बानका एतबार नहीं करेगा, जिससे कि हमारा न मालूम कितने प्रसंगों पर अहित हो जाना संभव है। अतएव हमें पंच पापोंसे कमसे कम राज-कानूनकी मंशाके अनुसार तो बराबर (सर्वांशमें) बचना ही चाहिये। ऐसा करनेसे हम राज-कानून भंगका फल (दंड) भी नहीं पावेंगे और हमारी राजन्यायालयमें वचन-साख भी क़ायम रहेगी।

चार दानोंके द्वारा दूसरोंके प्राकृतिक या परजनकृत दुःख (कष्ट) दूर करना—उनकी सहायता करना—याने जीवोंकी दया पालना, तथा धर्म, अर्थ † और काम इस त्रिवर्गका अविरोधरूपसे सेवन करना बाह्य व्रत-प्रधान या प्रवृत्ति-प्रधान अणुधर्मके अंग हैं।

ये महान् और अणु यों हैं कि—जहाँ अन्तर्व्रत-प्रधान या निवृत्ति-प्रधान धर्मका अनुष्ठाता साधु (वनस्थ) अपनी ओरसे किसीको दुःख (कष्ट) नहीं पहुँचा करके—किसीके प्रति सर्वांशमें अप्रशस्त और अधिकाँशमें प्रशस्त रागद्वेष नहीं करके—अपना और दूसरोंका हित संपादन करता है, वहाँ बाह्य-व्रतप्रधान या प्रवृत्ति-प्रधान धर्मका अनुष्ठाता उपासक (गृहस्थ) दूसरोंके प्रति अधिकांशमें प्रशस्त रागद्वेष करके अपना और दूसरोंका हित-अहित दोनों संपादन करता है।

उदाहरण लीजिये—

(१) मनुष्यसमाजके विषयमें उदाहरण—

धर्म (पारलौकिकधर्म=सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-वीतरागता), अर्थ और कामका अविरोध रूपसे सेवन करने वाले गृहस्थका जीवन ऐसे अनेक जटिल प्रसंगोंका—समस्याओंका—समुदाय है, जिनमें प्रशस्त राग-द्वेष किए बिना जीवन निर्वाह नहीं हो सकता है।

मित्रोंका प्राप्त करना और उनकी वृद्धि करना भी अर्थपुरुषार्थमें गर्भित है। अब ज़रा सोचिये तो, क्या यह पुरुषार्थ यूँही—सहज ही—सिद्ध हो जाता है ?—इसके लिये लौकिक धर्म (लोकसमर्थित राजधर्म—राजनियम) का पालन करना पड़ता है तब कहीं जाकर यह सिद्ध होता है।

गृहस्थके ऊपर इधर तो लौकिकधर्म पालनकी ज़िम्मेदारी और उधर पारलौकिकधर्म पालनकी ज़िम्मेदारी है। जैसा कि कहा है—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

—यशस्तिलक

सर्व एव विधिर्जैनः प्रमाणं लौकिकः सतां।
यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनं ॥

—रत्नमाला ६५

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥

—यशस्तिलक

भावार्थ—गृहस्थसे लौकिक या राजनियम ऐसे स्वीकार कराना अथवा ऐसा राजशासन स्थापित कराना कि जो धर्मको दूषण लगाने वाला न हो।

कितनी जटिल समस्याएँ हैं! यही कारण है कि अणुधर्म पालक गृहस्थके लिए एक ऐसा जीवन-मार्ग निश्चित किया गया है कि जिस पर चलनेसे वह दोनों ज़िम्मेदारियोंके विरोधरूपी खतरेसे बच जाता है। वह मार्ग है, शिष्ट (लोक या राजनियम पालक) जनोंका अनुग्रह करना और दुष्ट (बद-नियती लोक या राज-नियम-तोड़क) जनोंका निग्रह करना, चाहे वे कोई हों, बस इसीका नाम है प्रशस्त राग-द्वेष।

---

† “विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भांडोपस्कर-मित्रादीनामर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थः।”

(वात्स्यायन, कामसूत्र २-६)

“यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः।”

—सोमदेव-नीतिवाक्यामृत २

साधुजन लौकिक जिम्मेदारीसे रहित हैं. अतएव उनके लिए शत्रु-मित्र दोनों बराबर हैं, उन्हें किसीसे राग-द्वेष नहीं है।

(२) पशु-समाजके विषयमें उदाहरण—

एक चूहे पर बिल्ली झपटी, गृहस्थने बिल्लीको अघातक मार मारकर चूहेको छुड़ाया, गृहस्थकी यह प्रवृत्ति चूहेके प्रति अधिकांशमें प्रशस्तराग और बिल्लीके प्रति प्रशस्त द्वेषरूप हुई। इसी प्रकार एक कुत्ता बिल्लीके ऊपर झपटा, गृहस्थने बिल्लीको छुड़ाया, गृहस्थकी यह प्रवृत्ति बिल्लीके प्रति अधिकांश में प्रशस्तराग और कुत्तेके प्रति प्रशस्तद्वेष रूप हुई।

यहां पर अगर पूछो कि साधुजन दानके द्वारा सहायता तो नहीं कर सकते, सो तो ठीक; परन्तु क्या उनमें अनुकम्पा-वृत्ति भी नहीं है?—तो उत्तर यह है कि उनमें अनुकम्पावृत्ति जरूर है, परन्तु उनकी वृत्ति सर्वांशमें अप्रशस्त और अधिकांशमें प्रशस्त राग-द्वेषरहित, अंतर्मुखी होनेसे वह ऐसे समयमें दुःखी—कष्टो—जीवोंकी दशा पर अनुकम्पापूर्वक "वस्तुस्वरूप-विचार" की ओर झुक जाती है।

इस प्रकार यहाँ आकर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो परहित (दूसरोंके साथ प्रशस्त रागादिक नहीं करना) है, उसमें स्वहित समाया हुआ है, और वह स्वयं प्रथम हो जाता है।

आगममें यहाँ तक बतलाया है कि जो मनुष्य पूर्वभवमें दर्शनविशुद्धि, मार्गप्रभावना, प्रवचन-वत्सलत्व आदि सोलह भावना भाता है—यह भाता है कि कब मेरे रत्नत्रयकी (सम्यग्दर्शन, स० ज्ञान, स०चारित्रकी) शुद्धि हो और कब मैं शुद्धिका मार्ग (मोक्षका मार्ग) सम्पूर्ण भव्य (मुक्त होने योग्य) जीवोंको बतलाऊं—वही मनुष्य अगले जन्ममें तीर्थंकर होकर साधु अवस्था धारण करके फलस्वरूप वीतराग (निष्पक्ष) सर्वज्ञ, और हितोपदेशक होता है।

अब समझमें आ जाना चाहिये कि जिन्होंने स्वहित प्राप्त किया है, अथवा जिन्होंने वीतरागतापूर्वक हितको देख-जान लिया है और अनुभव कर लिया है, वे ही 'हितोपदेशक' होनेके पूर्ण अधिकारी हैं।

अतएव ऐसा नहीं समझा जाय कि जैनागममें परहितका स्थान गौण और जैनागमोक्त साधु-चरित्र निम्न कोटिका है। बल्कि यह स्पष्ट कहा गया है कि—

> *"साधारणा रिपौ मित्रे साधकाः स्वपरार्थयोः।*
> *साधुवादास्पदीभूताः साकारे साधकाः स्मृताः॥"*
>
> —**आत्मप्रबोध, ११२**

अर्थात—जो शत्रु-मित्रमें समान है—मित्रोंसे राग और शत्रुओंसे द्वेष नहीं करते—अपने और परके प्रयोजनको सिद्ध करनेवाले हैं, और साधवाद के स्थान हैं—सब लोग जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे 'सा' अक्षरके वाच्यरूप 'साधक' अथवा 'साधु' हैं।

सर गुरूदास बनर्जीने अपने "ज्ञान और कर्म" नामक ग्रन्थमें स्वार्थ (स्वहित) और परार्थ (परहित) की व्याख्या करते हुए बहुत कुछ लिखा है, जिसका सारांश यह है कि—हमारा स्वार्थ परार्थ-विरोधी नहीं, बल्कि परार्थके साथ सम्पूर्ण रूपसे मिला हुआ है। खुद स्वार्थसिद्ध किए बिना हम परार्थ सिद्ध नहीं कर सकते। मैं अगर खुद असुखी हूँगा तो मेरे द्वारा दूसरोंका सुखी होना कभी सम्भव नहीं।

आशा है, इतने विवेचनसे उक्त 'क्यों' रूप शंकाका कुछ समाधान होगा।

* * *

---

† लोक या राजनियम तोड़नेवाले अपने पुत्रोंतकको प्राण दण्ड-जैसा निग्रह करनेके अनेक उदाहरण पुराणों में पाये जाते हैं।

सम्पादकीय

१ आभार और धन्यवाद

'अनेकान्त' एक वर्ष चल कर घाटेके कारण बन्द हो गया था और कुछ वर्ष तक बन्द रहा था, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। सन १९३८ में जब ला० तनसुखरायजी न्यू देहली, वीरशासन जयन्तीके शुभअवसर पर सभापतिकी हैसियतसे वीरसेवा-मन्दिरमें सरसावा तशरीफ लाए और आपके साथ उत्साही नवयुवक भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय भी पधारे, तब आप दोनों ही सज्जनोंने वीरसेवा-मन्दिरके कार्योंको देखकर 'अनेकान्त' के पुनः प्रकाशनकी आवश्यकताको महसूस किया, लाला जीने पत्रके घाटेकी जिम्मेदारीको अपने ऊपर लिया और गोयलीयजीने पूर्ववत् प्रकाशकके भारको अपने ऊपर लेकर प्रकाशन तथा व्यवस्था-सम्बन्धी चिन्ताओंका मार्ग साफ़ कर दिया, और इस तरह मुझे फिरसे 'अनेकान्त' को निकालनेके लिये प्रोत्साहित किया। तदनुसार दो वर्षसे यह पत्र बराबर ला० तनसुखरायजीके संचालकत्व और भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीयके व्यवस्थापकत्वमें आनन्दके साथ प्रकाशित होता आ रहा है। दो वर्षके भीतर पत्रको जो घाटा रहा वह सब लालाजीने उठाया और गोयलीयजीको अपने आफिसवर्कके अतिरिक्त ओवरटाइममें प्रेस तथा प्रूफादिकी व्यवस्थादि-विषयक जो दिन रात भारी परिश्रम उठाना पड़ा उसे आपने खुशीसे उठाया। इस तरह आप दोनों सज्जनोंकी बदौलत 'अनेकान्त' को दो वर्षका नया जीवन प्राप्त हुआ, इसके लिये मैं आप दोनों सज्जनोंका बहुत आभारी हूँ और आपको हार्दिक धन्यवाद भेट करता हूँ। आपके इस निमित्तको पाकर कितनोंको लेख लिखनेकी प्रेरणा हुई, कितने नये लेख लिखे गये, कितनी नई खोजें हुई, कितनी विचार-जागृति उत्पन्न हुई, कितने ठोस साहित्यका निर्माण हुआ और उससे समाजको क्या कुछ लाभ पहुँचा, उस सबको बतलानेकी जरूरत नहीं, यहाँ संक्षेपमें इतना ही कहना है कि उस सबका मुख्य श्रेय आप दोनों सज्जनोंको है—जो अच्छे कामोंका निमित्त जोड़ते हैं वे ही प्रधानतया श्रेयके भागी होते हैं—और इसलिये आप समाजकी ओरसे भी विशेष धन्यवादके पात्र हैं।

यहाँ पर मैं उन उदार परोपकारी सज्जनोंका आभार प्रदर्शित किये बिना भी नहीं रह सकता जिन्होंने अपनी ओरसे अजैन संस्थाओं—स्कूलों, कालिजों तथा पब्लिक लायब्रेरियों आदिको 'अनेकान्त' फ्री (विना मूल्य) भिजवाया है, और इस तरह अनेकान्त-साहित्यको दूसरों तक पहुँचा कर उसके प्रचारमें सहायता पहुँचाई है, इतना ही नहीं बल्कि 'अनेकान्त' के घाटेकी रकमको कम करनेमें सहयोग देकर उसके संचालकादिके उत्साहको बढ़ानेमें भी मदद की है। अस्तु; इस पुण्य कार्यमें सबसे अधिक सहयोग श्रीमान दानवीर रा० ब० सेठ हीरालालजी इन्दौरने प्रदान किया है—आपने ५००) रु० की रकम देकर १५० अजैन संस्थाओंको एक वर्ष और १०० जैन मन्दिरों-पुस्तकालयोंको छह महीने तक 'अनेकान्त' भिजवानेकी उदारता दिखलाई है। शेष सज्जनोंमेंसे चार नाम यहाँ और भी खास तौरसे उल्लेखनीय हैं—(१) ला० छुट्टनलालजी मैदे वाले देहली, जिन्होंने सबसे पहले ५१) रुपये देकर इस परोपकार एवं सत्सहयोगके कार्यमें पेश क़दमी की, (२) श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसा ने १०१) रु० (३) जैन नवयुवक सभा जबलपुर, ने ३०) रु० (४) सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौरने २५) रु० देकर संस्थाओंको पत्र फ्री भिजवाये।

इस अवसर पर मैं अपने उन लेखक महानुको कभी नहीं भूल सकता, जिन्होंने समय समय पर अपने महत्वके लेखों द्वारा मेरी, अनेकान्तकी और समाजकी सेवा की है। आपके सहयोगके विना मैं कुछ भी नहीं कर सकता था। 'अनेकान्त' को इतना उन्नत, उपादेय तथा स्पृहणीय बनाना यह सब आपके ही परिश्रमका फल है।

और इसलिये मैं आपका सबसे अधिक आभार मानता हूँ। इन सज्जनोंमें बा० सूरजभानजी वकील पं नाथूरामजी 'प्रेमी', बा० जयभगवानजी वकील, पं० परमानन्दजी शास्त्री, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी, बा० अगरचन्दजी नाहटा, पं०रतनलालजी संघवी, भाई अयोध्याप्रसादजी गोयलीय, पं० भगवत्स्वरूपजी 'भगवत्', व्याकरणाचार्य पं० वंशीधरजी, बा० माईदियालजी बी. ए., प्रो० जगदीशचन्द्रजी एम. ए., पं० कैलाशचन्दजी शास्त्री पं०ताराचन्दजी दर्शनशास्त्री और भाई बालमुकन्दजी पाटोदीके नाम खास तौरसे उल्लेख योग्य हैं। आशा है ये सब सज्जन आगेको इससे भी अधिक उत्साहके साथ 'अनेकान्त' की सेवामें तत्पर होंगे, और दूसरे सुलेखक भी आपका अनुकरण करेंगे।

२ अनेकान्तका आगामी प्रकाशन

'अनेकान्त' की गत ११ वीं किरणमें व्यवस्थापक अनेकान्तने जो सूचना निकाली थी उसके अनुसार इस किरणके बादमें अनेकान्तका देहलीसे प्रकाशन बन्द हो रहा है। अतः इस पत्रके आगामी प्रकाशनकी एक बड़ी समस्या सामने है। व्यवस्थापकजीकी सूचनाको पढ़कर मेरे पास पं० मुन्नालालजी जैन वैद्य मलकापुर (बरार) का एक पत्र आया है, जिसमें उन्होंने 'अनेकांत' के संचालन और उसके घाटेके भारको उठानेकेलिये अपनेको पेश किया है और लिखा है कि स्वीकारता मिलने पर वे अपने श्रीमहावीर प्रिंटिंग प्रेसमें अनेकान्तके योग्य नये टाइपों आदिकी व्यवस्था कर देंगे और पत्रको सुन्दरता तथा शुद्धताके साथ छापकर प्रकाशित करनेका पूरा प्रयत्न करेंगे। इस प्रशंसनीय उत्साहके लिये आप निःसन्देह धन्यवादके पात्र हैं। अस्तु, अभी आपसे पत्रव्यवहार चल रहा है, कुछ समस्याएँ हल होनेको बाकी हैं, जैसा कुछ अन्तिम निर्णय होगा उसकी सूचना निकाली जायगी।

३ मेरी आन्तरिक इच्छा

मेरी आन्तरिक इच्छा तो यह है कि 'अनेकान्त' के घाटेका भार समाजके किसी एक व्यक्ति पर न रक्खा जाय, बल्कि समाजके कुछ उदार सज्जन उसे मिल कर उठा लेवें, अथवा इसके संचालनके लिये समाजका एक सुव्यवस्थित बोर्ड नियत हो जावे, जिससे यह पत्र सर्वथा परमुखापेक्षी न रहे—किसीकी किसी भी कारणवश सहायताके बन्द हो जाने पर इसका जीवन खतरेमें न पड़ जाय और इसे अपना जीवन संकट टालनेके लिये इधर-उधर भटकना न पड़े इसे स्वावलम्बी बनने तथा घाटेसे मुक्त रहनेका पूरा प्रयत्न किया जाय और इसे क्रमशः 'कल्याण' की कोटिका पत्र बनाया जाय। साथ ही, इसका प्रकाशन भी सम्पादनकी तरह वीरसेवामन्दिर सरसावासे ही बराबर होता रहे, जो इसके लिये उपयुक्त तथा गौरवका स्थान है। समाजकी माली हालत, धर्म कार्योंमें उसके व्यय और उसके श्रीमानोंकी उदार परिणतिको देखते हुए यह सब उसके लिये कुछ भी नहीं है। सिर्फ थोड़ासा योग इस तरफ देने-दिलानेकी जरूरत है, जिसके लिये अनेकान्तके प्रेमियोंको खासतौरसे प्रयत्न करना चाहिये। मेरी रायमें बोर्ड जैसी किसी बड़ी स्कीमसे पहले अनेकान्तके कुछ सहायक बनाए जावें और उनके १००), ५०) तथा २५) के तीन ग्रेड रक्खे जाएँ। कमसे कम १५ सज्जन सौसौकी २० सज्जन पचास पचासकी और २० सज्जन पच्चीस पच्चीस रुपएकी सहायता करने वाले यदि मिल जाएँ तो अनेकान्त कुछ वर्षोंके लिए घाटेकी चिन्तासे मुक्त हो सकता है और इस अर्सेमें वह फिर अपने पैरों पर भी आप खड़ा हो सकता है। यदि इस किरणके प्रकाशित होनेसे १५ दिनके भीतर १५ नवम्बर तक मुझे ऐसे सहायकोंकी ओरसे एक हज़ार रुपयेकी सहायताके वचन भी मिल गये तो मैं वीरसेवामन्दिर से ही अनेकान्तके चौथे वर्षका प्रकाशन शुरु कर दूँगा। आशा है अनेकान्त के प्रेमी इस विषयकी महत्ताका अनुभव करते हुए शीघ्र ही इस ओर योग देने-दिलानेमें पेशकदमी करेंगें और मुझे अपनी सहायताके वचनसे शीघ्र ही सूचित करनेकी कृपा करेंगे।

—*—

पंडितप्रवर आशाधर

[ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी]

(गत किरणसे आगे)

७-भट्टारक विनयचन्द्र—इष्टोपदेशकी टीकाके अनुसार ये सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य थे और इन्हें पण्डितजीने धर्मशास्त्रका अध्ययन कराया था। इन्हींके कहनेसे उन्होंने इष्टोपदेशकी टीका बनाई थी।

८-महाकवि मदनोपाध्याय—हमारा अनुमान है कि ये विन्ध्यवर्माके संधिविग्रहिक मंत्री बिल्हण कवीशके ही पुत्र होंगे।❀ 'बाल-सरस्वती' नामसे ये प्रख्यात थे और मालवनरेश अर्जुनवर्माके गुरु थे। अर्जुनवर्माने अपनी अमरुशतककी संजीविनी टीकामें जगह जगह 'यदुक्तमुपाध्यायेन बाल-सरस्वत्यापरनाम्नामदनेन' लिखकर इनके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। उनसे मालूम होता है कि मदनका कोई अलंकार-विषयक ग्रन्थ था। महाकवि मदनकी पारिजातमंजरी नामकी एक नाटिकाथी, जिसके दो अंक धारकी 'कमाल मौला' मसजिदके पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं। अनुमान किया जाता है कि शेष अंकोंके पत्थर भी उक्त मसजिदमें कहीं लगे होंगे। पहले यह नाटिका महाराजा भोजदेवद्वारा स्थापित शारदा-सदन नामक पाठशालामें उत्कीर्ण करके रक्खी गई थी और वहीं खेली गई थी। अर्जुनवर्मदेवके जो तीन दान-पत्र मिले हैं, वे इन्हीं मदनोपाध्यायके रचे हुए हैं। उनके अन्तमें लिखा है—"रचितमिदं राजगुरुणा मदनेन।' मदन गौड़ ब्राह्मण थे। पण्डित आशाधरजीने इन्हें काव्य-शास्त्र पढ़ाया था।

९-पंडित जाजाक—इनकी प्रेरणासे पण्डितजीने प्रति दिनके स्वाध्यायके लिए त्रिषष्टिस्मृति-शास्त्रकी रचनाकी थी। इनके विषयमें और कुछ नहीं मालूम हुआ।

१०-हरदेव—ये खण्डेवाल श्रावक थे और अल्हण-सुत पापा साहुके दो पुत्रों बहुदेव और पद्मसिहमेंसे बहुदेवके पुत्र थे। उदयदेव और स्तम्भदेव इनके छोटे भाई थे। इन्हींकी विज्ञप्तिसे पंडितजीने अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचंद्रिका टीका लिखी थी।

११ महीचन्द्र साहु—ये पौरपाट वंशके अर्थात् परवार जातिके समुद्धर श्रेष्ठीके लड़के थे ❀। इनकी प्रेरणासे सागारधर्मामृतकी टीकाकी रचना हुई थी और इन्हींने उसकी पहली प्रति लिखी थी।

१२ धनचन्द्र--इनका और कोई परिचय नहीं दिया है। सागार-धर्मटीकाकी रचनाके लिये इन्होंने भी उपरोध किया था।

❀ देखिये आगे प्रशस्तिके ६-७ वें पद्यकी व्याख्या।

❀ पौरपाट और परवार एक ही हैं, इसके लिए देखिए मेरा लिखा हुआ 'परवार जातिके इतिहास पर प्रकाश' शीर्षक विस्तृत लेख, जो 'परवारबन्धु' और 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुआ है।

१३ केल्हण--ये खण्डेलवालवंशके थे और इन्होंने जिन भगवानकी अनेक प्रतिष्ठायें कराके प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। सूक्तियोंके अनुरागसे अर्थात् सुन्दर कवित्वपूर्ण रचना होनेके कारण इन्होंने 'जिनयज्ञ-कल्प'का प्रचार किया था। यज्ञकल्पकी पहली प्रति भी इन्हींने लिखी थी।

१४ धीनाक--ये भी खण्डेवाल थे। इनके पिता का नाम महण और माताका कमलश्री था। इन्होंने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी सबसे पहली प्रति लिखी थी।

कविअर्हद्दास—मुनिसुव्रतकाव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यजनकंठाभरणके कर्ता हैं। पं० जिनदास शास्त्रीके खयालसे ये भी पण्डित आशाधरके शिष्य थे। परन्तु इसके प्रमाणमें उन्होंने जो उक्त ग्रन्थोंके पद्य उद्धृत किये हैं-उनसे इतना ही मालूम होता है कि आशाधरकी सूक्तियोंसे और ग्रन्थोंसे उनकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वे उनके साक्षात् शिष्य थे, या उनके सहवासमें रहे थे, यह प्रकट नहीं होता। पण्डित आशाधरजीने भी उनका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। अब उन पद्योंपर विचार कीजिए। देखिए मुनिसुव्रत काव्यके अन्तमें कहा है—

धावन्कापथसंभृते भववने सन्मार्गमेकं परम्
त्यक्त्वा श्रांततरश्चिराय कथमप्यासाद्य कालादमुम्।
सद्धर्मामृतमुद्धृतं जिनवचः क्षीरोदधेरादरात्,
पायं पायमितः श्रमः सुखपथं दासो भवाम्यर्हतः ॥६४॥

मिथ्यात्वकर्मपटलैश्चिरमावृते मे
युग्मे दृशोः कुपथयाननिदानभूते।
आशाधरोक्तिलसदंजनसंयोगै-
रच्छीकृतेपृथुलसत्पथमाश्रितोऽस्मि ॥ ६५ ॥

अर्थात्—कुमार्गोंसे भरे हुए संसाररूपी बनमें जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा, अन्तमें बहुत थक कर किसी तरह काललब्धिवश उसे फिर पाया। सो अब जिनवचनरूप क्षीरसागरसे उद्धृत किये हुए धर्मामृत (आशाधरके धर्मामृतशास्त्र?) को सन्तोषपूर्वक पी पीकर और विगतश्रम होकर मैं अर्हद्भगवानका दास होता हूँ॥ ६४॥

मिथ्यात्व-कर्म-पटलसे बहुत काल तक ढँकी हुई मेरी दोनों आंखें जो कुमार्गमें ही जाती थीं, आशाधरकी उक्तियोंके विशिष्ट अंजनसे स्वच्छ हो गई और इसलिए अब मैं सत्पथका आश्रय लेता हूँ॥ ६५॥

इसी तरह पुरुदेवचम्पूके अन्तमें आंखोंके बदले अपने मनके लिए कहा है—

मिथ्यात्वपंककलुषे मम मानसेऽस्मिन्
आशाधरोक्तिकतकप्रसरैः प्रसन्ने।

अर्थात्—मिथ्यात्वकी कीचड़मे गँदले हुए मेरे इस मानसमें जो कि अब आशाधरकी सूक्तियोंकी निर्मलीके प्रयोगसे प्रसन्न या स्वच्छ हो गया है।

भव्यकण्ठाभरणमें भी आशाधरसूरिकी इसी तरह प्रशंसा की है कि उनकी सूक्तियाँ भवभीरु गृहस्थों और मुनियोंके लिए सहायक हैं।

इन पद्योंमें स्पष्ट ही उनकी सूक्तियों या उनके सद्ग्रन्थोंका ही संकेत है जिनके द्वारा अर्हद्दासजीको सन्मार्गकी प्राप्ति हुई थी, गुरु-शिष्यत्वका नहीं।

हां, चतुर्विंशति-प्रबन्धकी कथाको पढ़नेके बाद हमारा यह कल्पना करनेको जी अवश्य होता है कि कहीं मदनकीर्ति ही तो कुमार्गमें ठोकरें खाते खाते अन्तमें आशाधरकी सूक्तियोंसे अर्हद्दास न बन गये हों। पूर्वोक्त ग्रन्थमें जो भाव व्यक्त किये

गये हैं, उनसे इस कल्पनाको बहुत कुछ पुष्टि मिलती है। और फिर यह अर्हद्दास नाम भी विशेषण जैसा ही मालूम होता है। सम्भव है उनका वास्तविक नाम कुछ और ही रहा हो। यह नाम तो एक तरहकी भावुकता और विनयशीलता ही प्रकट करता है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी नोट करने लायक है कि अर्हद्दासजीके ग्रन्थोंका प्रचार प्रायः कर्णाटक प्रान्तमें ही रहा है जहाँ कि वे चतुर्विंशतिप्रबन्धकी कथाके अनुसार सुमार्गसे पतित होकर रहने लगे थे। सत्पथपर पुनः लौटने पर उनका वहीं रह जाना सम्भव भी जंचता है।

इतना सब लिख चुकनेके बाद अब हम पं० आशाधरजीके अन्तिम ग्रन्थ अनगारधर्मामृत टीकाकी अन्त्य प्रशस्ति उद्धृत करके उसका भावार्थ भी लिख देते हैं जिसके आधार पर पूर्वोक्त सब बातें कही गई हैं। यह उनकी मुख्य प्रशस्ति है, अन्य ग्रंथोंकी प्रशस्तियाँ इसीमें कुछ पद्य कम ज्यादा करके बनी हैं। उन न्यूनाधिक पद्योंको भी हमने टिप्पणीमें दे दिया है और आगे चलकर उनका भी अभिप्राय लिख दिया है।

मुख्य प्रशस्ति

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥१॥

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनद्।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥२॥

"व्याघ्रेरवालवंशसरोजहंसःकाव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो
विजयतां कलिकालिदासः" ॥ ३ ॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या।
"प्रज्ञापुंजोऽसी" ति च योऽभिहितो
मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥†

म्लेच्छेशेन‡ सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥५॥

"आशाधरत्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमार्यं।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाङ्मयमयं प्रपञ्चः" ॥६॥

इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।

---

† मूलाराधना-टीका (शोलापुर) जिस प्रति परसे प्रकाशित हुई है, उसमें प्रशस्तिके ये चार ही पद्य मिले हैं और सम्पादक पं० जिनदास शास्त्रीने प्रशस्तिको अपूर्ण लिखा है। शायद आगेका पत्र गायब है।

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिमें प्रारम्भके दो पद्यों के बाद 'व्याघ्रेरवाल' आदि पद्य न होकर 'म्लेच्छेशेन' आदि पाँचवाँ पद्य है। उसके बाद 'श्रीमदर्जुनभूपाल' आदि आठवाँ और फर 'योद्राग्व्याकरणाब्धि' आदि नवाँ पद्य दिया है।

‡ म्लेच्छेशेन साहिबुदीनतुरुष्कराजेन।—भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका।

चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः ।
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥९॥❀
स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥१०॥
सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं,
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं,
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥११॥†
राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधत्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥१२॥
आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धम् ।
व्यधत्तामरकोषे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १४ ॥
रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालंकारस्य निबन्धनम् ।
सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १५॥
सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालंकृतं व्यधात् ॥ १६ ॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम् ।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १७ ॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥१८॥❀

---

* त्रिषष्टिस्मृतिकी प्रशस्तिमें इस पद्यका नम्बर पाँच है । उसके आगे नीचे लिखे पद्य हैं—

धर्मामृतादिशास्त्राणि कुशाग्रीयधियामिव ।
यः सिद्ध्यंक महाकाव्यं रसिकानां मुदेऽसृजत् ॥ ६ ॥
सोऽहमाशाधरः कण्ठमलंकर्तुं सधर्मिणाम् ।
पञ्जिकालंकृतं ग्रंथमिमं पुण्यमरीरचम् ॥ ७ ॥
क्वार्षमब्धिः क्व मद्धीस्तैस्तथाप्येतच्छ्रुतं मया ।
पुण्यैः सद्भ्यः कथारत्नान्युद्धृत्य ग्रथितान्यतः ॥८
संक्षिप्यतां पुराणानि नित्यस्वाध्यायसिद्धये ।
इति पण्डितजाजाकाद्विज्ञप्तिः प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥
यच्छद्मस्थतया किञ्चिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
तत्संशोध्य पठन्त्वेनं जिनशासनभाक्तिकाः ॥ १० ॥
महापुराणान्तस्तत्त्वसंग्रहं पठतामिमं ।
त्रिषष्टिस्मृतिनामानं दृष्टिदेवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसिस्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १२ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
ग्रंथोऽयं द्विनवद्व्येकविक्रमार्कसमात्यये ॥ १३ ॥
खाण्डिल्यवंशे महणकमलश्रीसुतः सुदृक् ।
धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥

† इसके आगेके 'राजीमती' और 'आदेशात्' आदि दो पद्य सागारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तियोंमें नहीं है ।

❀ इस पद्यके आगे जिनयज्ञकल्पमें नीचे लिखे पद्य दिये हैं—

प्राच्यानि संचर्च्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रं ।
आम्नायविच्छेदतमच्छिदेयं ग्रंथः कृतस्तेन युगानुरूपः ॥१८
खाण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो,
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम् ।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः,
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १९ ॥
विक्रमवर्षसपंचाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु,
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य ।
श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये,
नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ २० ॥
अनेकार्हत्प्रतिष्ठाप्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वायं प्रचारितः ॥ २१ ॥
नन्द्यात्खाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २२ ॥

आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १९ ॥†
सोहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥‡
शब्दे चार्थे च यत्किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम ।
छद्मस्थभावात् संशोध्य सूरयस्तत् पठन्त्विमाम् ॥२१
नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।
साधुः पापाभिधः श्रीमानासीत्पापपराङ्मुखः ॥२३॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥२४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
उदयी स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकाद्दृताः ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पंडिताशाधारश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
द्विष्टाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥२९॥
प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसिस्थाम्नाऽवन्तीनऽवत्यलम् ॥३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥ ❀

मुख्य प्रशस्तिका भावार्थ

शाकंभरीभूषण सपादलक्ष † देशमें लक्ष्मीसे भरा पूरा मण्डलकर ‡ नामका किला था। वहां

---

† यह पद्य सागारधर्मामृत--टीकामें और जिनयज्ञकल्पमें ११ नम्बरके बाद दिया है।

‡ इसके बदले सागारधर्मामृत–टीकामें नीचे लिखा हुआ पद्य है।

सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥

❀ इसके स्थान पर सागारधर्मामृतमें निम्न श्लोक हैं—

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमांकसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेयं नंदताच्चिरम् ॥ २१ ॥
श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय–
व्योमेन्दुःसुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो यदभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो
ग्रन्थस्यास्य च लेखितोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥२२

इष्टोपदेश-टीकाकी प्रशस्तिमें नीचे लिखे तीन पद्य हैं—

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ २ ॥
उपशम इव मूर्त्तः सागरेन्दुमुनीन्द्रा-
दजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः ।
जगदमृतसगर्भाशस्त्रसन्दर्भगर्भः
शुचिचरित वरिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥
जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांह्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

†-‡ सपादलक्षको भाषामें सवालख कहते हैं। नागौर (जोधपुर) के आसपासका प्रदेश सवालख नामसे प्रसिद्ध है। वहां पहले चौहान राजाओंका राज्य था। फिर सांभर और अजमेरके चौहान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा, और उसके सम्बन्धसे

बघेरवाल वंशमें श्री सल्लक्षण नामक पिता और श्रीरत्नी मातासे जैनधर्ममें श्रद्धा रखने वाले पण्डित आशाधरका जन्म हुआ। १

अपने आपको जिस तरह सरस्वती(वाग्देवता) में प्रकट किया उसी तरह जिसने अपनी पत्नी सरस्वतीमें छाहड़ नामक गुणी पुत्रको जन्म दिया, जिसने मालव-नरेश अर्जुनवर्मदेवको प्रसन्न किया। २

कवियोंके सुहृद् उदयसेन मुनिद्वारा जो प्रीतिपूर्वक इन शब्दोंद्वारा अभिनन्दित किया गया— बघेरवाल वंश-सरोवरका हंस, सल्लक्षणका पुत्र, काव्यामृतके पानसे तृप्त, नय-विश्वचक्षु, और कलिकालिदास पण्डित आशाधरकी जय हो।" और मदनकीर्ति यतिपतिने जिसे 'प्रज्ञापुंज' कहकर अभिहित किया। ३-४

म्लेच्छ नरेशके द्वारा* सपादलक्ष देशके व्याप्त होजाने पर सदाचार-नाशके डरसे जो बहुतसे परिजनों या परिवारके लोगोंके साथ बिन्ध्यवर्मा राजाके ‡ मालव मण्डलमें आकर धारानगरीमें बस गया और जिसने वादिराज पण्डित धरसेनके शिष्य

चौहान राजाओंको 'सपादलक्षीय नृपति' विशेषण दिया जाने लगा। साँभरको ही शाकंभरी कहते हैं। साँभर झील जो नमकका आकार है, उस समय सवालख देश की सिंगार थी, अर्थात् साँभरका राज्य भी तब सवालखमें शामिल था। मण्डलकर दुर्ग अर्थात् मांडलगढ़का किला इस समय मेवाड़ राज्यमें है, परन्तु उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके अधीन था। चौहान राजाओंके बहुतसे शिलालेख वहां पर मिले हैं। पृथ्वीराजके समय तक वहांके अधिकारी चौहान रहे हैं। अजमेर जब मुसलमानोंके क़ब्जेमें आया तब माँडलगढ़ भी उनके हाथ चला गया।

* धर्मामृतकी टीकामें इस म्लेच्छराजाको "साहिबुद्दीन तुरुष्क" बतलाया है। यह गज़नीका बादशाह शहाबुद्दीन ग़ोरी ही है। इसने वि० सं० १२४६ (ई० सं० ११९२) में पृथ्वीराजको हराकर दिल्लीको अपनी राजधानी बनाया था। उसी वर्ष अजमेरको भी अपने अधीन करके और अपने एक सरदारको सारा कारबार सौंपकर वह गज़नी लौट गया था। शहाबुद्दीनने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेर पर धावा किया होगा; क्योंकि अजमेर भी पृथ्वीराजके अधिकारमें था और उसी समय सपादलक्ष देश उसके अत्याचारोंसे व्याप्त हो रहा होगा। इसी समय अर्थात् विक्रम संवत् १२४६ के लगभग पं० आशाधर मांडलगढ़ छोड़कर धारामें आये होंगे।

‡ अनगारधर्मामृतकी मुद्रित टीकामें विन्ध्यभूपतिका खुलासा 'विजयवर्म मालवाधिपतिः' किया है; परन्तु हमारे अनुमानसे लिपिकारके दोषसे अथवा प्रूफ-संशोधककी असावधानीसे ही 'विन्ध्यवर्म'की जगह 'विजयवर्म' हो गया है। परमारवंशकी वंशावलियों और शिलालेखोंमें विन्ध्यवर्माका 'विजयवर्मा' नामान्तर नहीं मिलता। श्रीयुक्त लेले और कर्नल लुअर्डने विन्ध्यवर्माका समय वि० सं०१२१७ से १२३७ तक निश्चित किया है; परन्तु पं० आशाधरजीके उक्त कथनसे कमसे कम १२४९ तक विन्ध्यवर्माका राज्यकाल माना जाना चाहिए। उक्त विद्वानोंने विन्ध्यवर्माके पुत्र और उत्तराधिकारी सुभटवर्मा (सोहड़) का समय १२३७ से १२६७ तक माना है, परन्तु सुभटवर्मा १२३७ में राजा था, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, वह १२४६ के बाद ही राजपद पर आया होगा।

पं० महावीरसे जैनेन्द्र प्रमाण-शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरण पढ़ा ॥ ५ ॥

विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मन्त्री (फॉरेन सैक्रेटरी) बिल्हण कविराजने जिसकी इस प्रकार स्तुति की "हे आशाधर, हे आर्य, सरस्वतीपुत्रतासे तुम मेरे साथ अपनी स्वाभाविक सहोदरता(भाईपन) और अन्वर्थक मित्रता समझो। ('सरस्वतीपुत्रता' श्लिष्ट पद है। अर्थात् जिस तरह तुम सरस्वतीपुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ। शारदाके उपासक होनेसे दोनों सरस्वतीपुत्र तो थे ही, साथ ही आशाधरकी पत्नीका नाम सरस्वती था और उससे छाहड़ नाम का पुत्र था। उस सरस्वती-पुत्रमें आशाधरको सरस्वती-पुत्रता प्राप्त थी। उधर मेरा अनुमान है कि बाल-सरस्वती महाकवि मदन भी बिल्हणके पुत्र होंगे, इसलिए उन्हें भी सरस्वती-पुत्र कहा जा सकता है। इस रिश्तेसे बिल्हणने आशाधरको सहोदर भाई कहा है) ॥ ६-७ ॥

जो अर्जुनवर्मदेवके राज्य-कालमें नलकच्छपुरमें† जो श्रावकोंके घरोंसे सघन था जैनधर्मका उदय करनेके लिए जाकर रहा ॥ ८ ॥

जिसने शुश्रूषा करने वाले अपने शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं जिन्हें व्याकरण समुद्रके पार न पहुँचाया हो, ऐसे कौन हैं जिन्हें षट्दर्शनके तर्क-शास्त्रको देकर प्रतिवादियोंपर विजय प्राप्त न कराई हो, ऐसे कौन हैं जिन्हें जिन-वचनरूपी दीपक (धर्मशास्त्र) ग्रहण कराके धर्म-मार्गमें निरतिचार रूपसे न चलाया हो और ऐसे कौन हैं जिन्हें काव्यसुधा पिला करके रसिकोंमें प्रतिष्ठा न प्राप्त कराई हो ॥ ९ ॥

(इस श्लोककी टीकामें पं० आशाधरजीने जुदा जुदा विषयोंका अध्ययन करनेवाले अपने शिष्योंके नाम भी देदिये हैं। उन्होंने पण्डित देवचन्द्रादिको व्याकरण, वादीन्द्र विशालकीर्त्यादिको न्यायशास्त्र, भट्टारक विनयचन्द्र आदिको धर्मशास्त्र और बालसरस्वती महाकवि मदनादिको काव्यशास्त्रका अध्ययन कराया था) ।

जिसने (आशाधरने) 'प्रमेयरत्नाकर' नामका तर्क-ग्रन्थ बनाया, जो स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसाद है और जिसमेंसे सुन्दर पद्योंका पीयूष (अमृत) प्रवाहित होता है ॥ १० ॥

जिसने 'भरतेश्वराभ्युदय' नामका सत्काव्य, जो निबन्धोज्ज्वल अर्थात् स्वोपज्ञ टीकासे स्पष्ट है, त्रैविद्य कविराजोंको प्रसन्न करनेवाला है, सिद्ध्यंक है, अर्थात् जिसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम पद्यमें 'सिद्धि' शब्द आया है, अपने कल्याणके लिए रचा। जिसने जिनागमसंभूत धर्मामृत नामका शास्त्र, 'निबन्धरुचिर, अर्थात् ज्ञानदीपिका नामका पञ्जिका टीकासे सुन्दर बनाकर मुमुक्षु विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया ॥११॥

जिसने श्रीनेमिनाथविषयक'राजमती-विप्रलंभ' नामक खण्ड काव्य स्वोपज्ञ टीकासे युक्त बनाया ॥ १२ ॥

जिसने अपने पिताकी आज्ञासे योगशास्त्रका अध्ययन आरम्भ करने वालोंके लिए प्यारा और प्रसन्न गम्भीर अध्यात्मरहस्य नामक शास्त्र बनाया ॥ १३ ॥

---

† नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धार (मालवा) से १० कोसकी दूरी पर है। अब भी वहां पर श्रावकोंके कुछ घर हैं, जैनमन्दिर भी हैं।

जिसने मूलाराधना (भगवतीआराधना) पर, इष्टोपदेश (पूज्यपादकृत) आदिपर और अमरकोशपर* टीकायें लिखीं और 'क्रियाकलाप' की रचना की। (आदि शब्दकी टीकामें आराधनासार (देवसेन कृत) और भूपाल चतुर्विंशतिका आदि की भी टीकायें बनानेका उल्लेख किया है।) ॥१४॥

जिसने रुद्रटाचार्यके 'काव्यालङ्कार' की टीका बनाई और स्वोपज्ञ टीका सहित जिनसहस्र नाम बनाया ॥ १५ ॥

जिसने जिनयज्ञकल्पदीपिका नामक टीका सहित 'जिनयज्ञकल्प' और सटीक त्रिषष्टि-स्मृति-शास्त्र' की रचना की ॥ १६ ॥

जिसने अर्हत् भगवानकी अभिषेक सम्बन्धी विधिके अन्धकारको दूर करनेके लिए सूर्यके सदृश 'नित्य—महोद्योत' नामका स्नानशास्त्र बनाया ॥१७

जिसने रत्नत्रय—विधानकी पूजा और माहात्म्यका वर्णन करनेवाला 'रत्नत्रय—विधान' नामका शास्त्र बनाया ॥ १८ ॥

जिसने वाग्भट संहिताको स्पष्ट करनेके लिए आयुर्वेदके विद्वानोंके लिए इष्ट 'अष्टांगहृदयोद्योत' नामका निबन्ध (टीका-ग्रन्थ) लिखा ॥ १९ ॥

ऐसा मैं आशाधर (जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है) धर्मामृतके यतिधर्मको प्रकाशित करनेवाली और मुनियोंको प्यारी यह टीका रचता हूँ ॥ २० ॥

यदि इसमें छद्मस्थताके कारण शब्द-अर्थका कुछ स्खलन हुआ हो, तो धर्माचार्य और विद्वान उसे सुधार कर पढ़ें ॥ २१ ॥

नलकच्छपुर (नालछा) में गृहस्थोंके अगुए, परम आर्हत, जिनपूजा-कृपादानपरायण, सोना-माणिक-विनयादिसे युक्त, पापोंसे पराङ्मुख, खण्डेलवाल वंशके पापा नामक साहूकार हैं ॥२२-२३॥ उनके दो पुत्र हैं, पहले पिताकी गृहस्थीके भारको संभालनेवाले बहुदेव और दूसरे लक्ष्मीवान् पद्मसिंह ॥ २४ ॥ बहुदेवके तीन पुत्र हैं-हरदेव, उदयदेव और स्तंभदेव। ये तीनों धर्म, अर्थ, कामका साधन करनेवाले हैं ॥ २५ ॥ साहू महीचन्द्रने बालबुद्धियों को समझानेके लिए धर्मामृतशास्त्रके सागार-धर्मकी टीका बनवाई और उसी धर्मामृतके यतिधर्म (अनगारधर्म) पर भी जो कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिए भी दुर्बोध्य है, टीका बना दीजिए, इस प्रकार की हरदेवकी विज्ञप्ति और धनचन्द्रके अनुरोधसे पण्डित आशाधरने यह क्षोदक्षमा (विचारसहा) टीका बनाई ॥ २६-२८ ॥

विद्वानोंने इसे भव्यकुमुदचन्द्रिका नाम दिया। ये दोनों सागार-अनगार-टीकायें कल्पकालपर्यंत रहें और मुमुक्षुजन इनका चिन्तन, अध्ययन करते रहें ॥ २९ ॥

---

* पहले भ्रमवश यह समझ लिया गया था कि अमरकोशकी जो पं० आशाधरकी लिखी टीका है, उसका नाम 'क्रियाकलाप' होगा। इस विषयमें 'विद्वद्रत्नमाला' के लेखका अनुसरण करके प्रायः सभी विद्वानोंने इस ग़ल्तीको दुहराया है। यहाँ तक कि पं० पन्नालालजी सोनीने भी अपने अभिषेकसंग्रहकी भूमिका में यही माना है। साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ भी अपने पिछले ग्रंथ 'राजा भोज' में 'अमरकोशकी क्रियाकलाप-टीका' लिख गये हैं। वास्तवमें क्रिया-कलाप पं० आशाधरका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उसकी एक हस्तलिखित प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें मौजूद है।

परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा श्री देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपने खड्गबलसे अवन्तीका पालन कर रहे हैं तब यह टीका नलकच्छपुरके श्रीनेमिनाथ-चैत्यालयमें वि० सं० १३०० कार्तिक सुदी पंचमी सोमवारके दिन समाप्त हुई ॥ ३०-३१ ॥

इस मुख्य प्रशस्तिसे अधिक जो पद्य अन्य ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें हैं, उनका भी सारांश आगे दे दिया जाता है। मूल पद्य मुख्य-प्रशस्तिके नीचे टिप्पणीके तौर पर दिये जा चुके हैं।

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रकी प्रशस्तिका भावार्थ

जिसने धर्मामृतादि शास्त्र कुशाग्र बुद्धिवालोंके लिये और सिद्धंचक महाकाव्य (भरतेश्वराभ्युदय) रसिकोंके आनन्दके लिये लिखा ॥ ६ ॥ उसी आशाधरने सहधर्मियोंके कण्ठको अलंकृत करनेके लिए यह पञ्जिका टीकायुक्त पवित्र ग्रन्थ रचा ॥ ७ ॥ कहाँ तो आर्ष (महापुराणरूप) समुद्र और कहाँ मेरी बुद्धि, तो भी सज्जनोंके लिए मैंने उसमेंसे कथा-रत्नोंको उद्धृत करके इस शास्त्रमें ग्रथित कर दिया है ॥ ८ ॥ प्रतिदिनके स्वाध्यायके लिए पुराणोंको संक्षिप्त कर दीजिये, पं० जाजाककी इस विज्ञप्तिने मुझे प्रेरित किया ॥ ९ ॥ इसमें मेरी छद्मस्थताके कारण यदि कुछ स्खलन हुआ हो तो जिनशासनभक्त उसको सुधार कर पढ़ें ॥ १० ॥ इस महापुराणके अन्तस्तत्त्वसंग्रहके पढ़नेवालों पर सम्यग्दृष्टि देवी प्रसन्न हो ॥ ११ ॥

परमारवंश-समुद्रके चन्द्रमा देवपाल राजाके पुत्र जैतुगिदेव जब अपनी तलवारके जोरसे अवन्ती (मालवा) पर शासन कर रहे हैं तब नलकच्छपुरके श्री नेमिनाथ—चैत्यालयमें यह ग्रंथ वि० सं० १२९२ में सिद्ध हुआ ॥ १२-१३ ॥ खण्डेलवालवंशके महण (पिता) और कमलश्री (माता) के पुत्र सद्दृष्टि धीनाकको वृद्धि हो, जिसने इस ग्रन्थकी पहली प्रति लिखी ॥ १४ ॥

जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिका भावार्थ

प्राचीन प्रतिष्ठाशास्त्रोंकी अच्छी तरह चर्चा करके आलोचना करके और इन्द्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर आम्नायविच्छेदरूप अन्धकारको नष्ट करने वाला यह युगानुरूप ग्रन्थ उसने बनाया ॥ १८ ॥ खण्डेलवाल वंशके भूषण, अल्हणके पुत्र, श्रावक धर्ममें रत, नलकच्छपुरके रहनेवाले, परोपकारी, जिनपूजा, पात्रदान, और समयोद्योतक प्रतिष्ठा करनेवालोंमें अगुए, पापा साहूने बारबार अनुरोध करके यह बनवाया ॥१९॥ आश्विन सुदी १५ वि० सं० १२८५ को परमारकुलशेखर देवपालके सुराज्य में, जिनका दूसरा नाम साहसमल्ल है, यह ग्रंथ नलकच्छपुरके नेमि-चैत्यालयमें सिद्ध हुआ ॥२०॥ बहुत-सी प्रतिष्ठायें करानेवाले केल्हणादिने सूक्तियों या सुभाषितके अनुरागसे पढ़कर इसका जल्दी ही प्रचार किया। खण्डेलवाल वंशके ये न्यासवित् केल्हण प्रसन्न रहें जिन्होंने इसकी यह पहली प्रति पाठ करनेके लिए लिखी ॥ २१-२२ ॥

सागारधर्मामृत-टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

यह भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका नलकच्छपुरके नेमि-चैत्यालयमें पौष वदी सप्तमी सं० १२९६ को

समाप्त हुई ॥२०-२१ ॥ पौरपाट (परवार) वंशरूप आकाशका चन्द्रमा और समुद्धर श्रेष्ठीका पुत्र महीचन्द्र प्रसन्न रहे, जिसकी प्रार्थनासे आशाधरने यह श्रावकधर्मका दीपक ग्रंथ बनाया और जिसने इसकी पहली प्रति लिखी ॥ २२ ॥

इष्टोपदेश-टीकाकी प्रशस्तिका भावार्थ

विनयचन्द्र मुनिके कहनेसे और भव्योंपर दया करके पं० आशाधरने यह इष्टोपदेश-टीका बनाई। साक्षात् उपशमकी मूर्तिके तुल्य सागरचन्द्र मुनीन्द्रके शिष्य विनयचन्द्र हुए जो सज्जन चकोरोंके लिए चन्द्र हैं, पवित्रचरित्र हैं और जिनकी वाणी अमृतसगर्भा और शास्त्रसन्दर्भगर्भा है ॥ २ ॥

जगद्वन्द्य श्री नेमिनाथके चरणकमल जयवन्त हों, जिनके आश्रयसे धूल भी राजाओंके सिर पर चढ़ती है ॥ ३ ॥*

परिशिष्ट

उक्त लेखके छप चुकनेके बाद मैं अपने कुछ पुराने काग़ज़ात देख रहा था कि उनमें स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवाल की भेजी हुई कुछ ग्रन्थ प्रशस्तियाँ मिलीं, जो उन्होंने जयपुरके कई पुस्तक भंडारोंसे नकल करके भेजी थीं। उनसे पता चला कि वहाँके पाटोदीजीके मन्दिरमें भूपालचतुर्विंशतिकाकी टीका और जिनयज्ञकल्प सटीक मौजूद हैं। पहले ग्रन्थमें १४ पत्र और ४०० श्लोक हैं। उसका प्रारंभ इस प्रकार होता है—

प्रणम्य जिनमज्ञानां सज्ञानाय प्रवक्ष्यते।
आशाधरो जिनस्तोत्रं श्रीभूपालकवेः कृति ॥१॥

अन्तमें लिखा है—

उपशम इव मूर्त्तिः पूतकीर्तिः स तस्मा-
दजनि विन(न)यचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसन्दर्भगर्भाः
शुचिचरितसहिश्नो (वरिष्णो) यस्य धिन्वन्ति वाचः

विनयचन्द्रस्यार्थमित्याशाधरविरचिता भूपालचतुर्विंशतिजिनेन्द्रस्तुतेष्टीका परिसमाप्ता।

दूसरे ग्रंथमें १०२ पत्र हैं और श्लोक संख्या २५०० है। उसका प्रारंभ इस प्रकार होता है—

नत्वा परापरगुरून्मन्दधियामर्थतत्त्वसंवित्त्यै।
विदधेल्पशो निबन्धं स्वकृतेर्जिनयज्ञकल्पस्य ॥

अन्तमें लिखा है—

इत्याशाधरदब्धे जिनयज्ञकल्पनिबन्धे कल्पदीपकनाम्नि षष्ठोध्यायः ॥ ६

इत्याशाधरविरचितो जिनयज्ञकल्पनिबन्धो कल्पदीपको नाम समाप्तः। संवत् १४६५ शाके १३६० वर्षे माघ वदि ८ गुरुवासरे।

---

* यह लेख 'दि० जैन पुस्तकालय' सूरतसे शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'सागार धर्मामृत-भाषा-टीका' की भूमिकाके लिये लिखा गया है। —लेखक

ऊँच-नीच-गोत्र-विषयक चर्चा

[लेखक—श्री बालमुकुन्द पाटोदी जैन, 'जिज्ञासु']

(२)

अनेकान्तके इसी वर्षकी दूसरी किरणमें, मैंने अपने उपर्युक्त शीर्षक वाले लेखमें 'मनुष्योंमें क्या, संपूर्ण साँसारिक जीवोंमें अपने अच्छे बुरे आचरणके आधार पर ही ऊँचता अथवा ऊँचगोत्रोदय तथा नीचता अथवा नीच गोत्रोदय हैं,' इस प्रकार चर्चा की थी, अब इस दूसरे लेखमें मैं उसे कुछ विशेष रूप देता हूँ और इस विषयमें अपनी समझ तथा अनेक विद्वानोंके लेखोंके अध्ययन-मनन परसे बने हुए अपने हृदयके भावको और अधिक स्पष्टताके साथ व्यक्त करता हूँ।

ऊँच-नीचगोत्रकर्मोदय क्या है ?

संपूर्ण संसारके जीव और विशेष करके मनुष्य अपनी अपनो यथासंभव और यथाशक्ति उन्नति करनेके सदैव इच्छुक रहा करते हैं और उन्नति करते भी रहते हैं। कोई स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करके बहुत काल तक जीते रहनेमें अपनी उन्नति करते हैं, कोई बहुत धन कमा कर धनवृद्धिमें अपनी उन्नति करते हैं; कोई नानाप्रकारकी युक्तियाँ सीखकर और बताकर तथा कठिनसे कठिन कार्यको भी सरलतापूर्वक करलेनेकी तरकीबें (उपाय) सोच सोच कर अपनी बुद्धिकी वृद्धिमें उन्नति करते हैं; और कोई नानाप्रकारकी कलाएँ-विद्याएँ, जैसे चित्रकारी, राग, वाद्य, वैद्यक ज्योतिष आदि सीखकर विद्यागुणोंकी वृद्धिमें अपनी उन्नति किया करते हैं और कोई यम-नियम, तप-संयम, ज्ञान-ध्यान-स्वाध्यायादि संसारोच्छेदक अनुष्ठानोंको करके धर्माचरणोंमें अपनी उन्नति किया करते है। और इस तरह सहस्रों प्रकारके कार्योंमें अपनी उन्नति करके अपने अपने नियमके (वृद्ध बढ़े) हुये अथवा बड़े कहलाते हैं; जैसे वयोवृद्ध, धनवृद्ध, गुणवृद्ध या विद्यावृद्ध, बुद्धिवृद्ध, और धर्मवृद्ध आदि। और जो इन उपर्युक्त विषयोंमें अवनत होते हैं वे हीन तथा छोटे कहलाते हैं। यह सहस्रों प्रकारके विषयों (कार्य, कला, विद्या आदि) की उन्नति, अवनति ही ऊँच नीच गोत्र कर्मोदय है। गोत्र कर्मके अगणित भेद हैं।

मुमुक्षु-भावनासे ओत-प्रोत हृदयों वाले हमारे आचार्योंने आत्माके अन्य कार्योंकी उन्नति-अवनतिके विषयमें लिखनेको अप्रयोजनभूत समझ कर उसकी उपेक्षा की और प्रधानतया आत्माकी प्रयोजनभूत केवल धार्मिक उन्नतिके विषयमें ही जिसका कि वे अभ्यासकर रहे थे, गहरी छान, बीन, खोज तलाश, तर्कवितर्क आदि करनेमें ही अपनी सारी शक्ति लगादी और अगणित साहित्यका निर्माण कर डाला।

जिन आचरणोंसे जन्म-मरणरूप संसार-भ्रमणकी वृद्धि (उन्नति) होती है, उन आचरणोंको त्याग करके उनके विरुद्ध अहिंसा, सत्य, शील, संयमादि आचरणोंको अंशरूपसे तथा पूर्णरूपसे पालन करने और अपने

आपको उन आचरणोंमय बना देनेको 'धार्मिक उन्नति' करना कहते हैं। यह धार्मिक उन्नति प्रत्येक मनुष्यकी और प्रत्येक प्राणीकी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है और नित्य-निगोदसे निकलते ही यह धार्मिक उन्नति प्रारम्भ हो जाती है। उदाहरणके लिये तीन मनुष्योंको लीजिये, जिनमेंसे एक तो देवगुरु-धर्मकी श्रद्धा-पूर्वक अष्ट मूल गुणोंका पालन करता है; दूसरा पंच अणुव्रतों और सप्त शीलव्रतोंके अनुष्ठानमें लीन रहता है, और तीसरा अहिंसादि व्रतोंके अनुष्ठानपूर्वक सप्तम प्रतिमातकके आचरणको लिये हुए पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करता है। इनमेंसे पहलेकी बाबत कहना होगा कि उसने दूसरे-तीसरेकी अपेक्षा कम धार्मिक उन्नति की, दूसरेने पहलेसे अधिक और तीसरेसे कम उन्नति की, और तीसरेने पहले तथा दूसरे दोनोंकी ही अपेक्षा अधिक धार्मिक उन्नति की। इस धार्मिक उन्नतिको दूसरे शब्दोंमें यूं भी बतलाया जा सकता है कि, पहले मनुष्यके अंदर दूसरे तथा तीसरेके मुकाबिलेमें धर्माचरण कम और असंयमाचरण अधिक है, अतः दूसरे तथा तीसरेकी अपेक्षा इसके नीच गोत्रका उदय है। तीसरे मनुष्यके अन्दर पहले तथा दूसरेके मुकाबिलेमें असंयमाचरण कम और धर्माचरण अधिक है अतः पहले और दूसरेकी अपेक्षा इसके ऊँच गोत्रका उदय है। और तीसरे मनुष्यके अन्दर पहलेकी अपेक्षा तो असंयमाचरण कम और धर्माचरण अधिक हैं अतः पहलेकी अपेक्षा इसके ऊँच गोत्रका उदय है और तीसरेकी अपेक्षा धर्माचरण कम और असंयमाचरण अधिक है, अतः तीसरेकी अपेक्षा इसके नीच गोत्रका भी उदय है। इस तरह पर प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणीके अपनेसे असंयमाचरण अधिक और धर्माचरण कम होने वाले प्राणीकी अपेक्षा ऊंच गोत्रका उदय है और अपनेसे धर्माचरण अधिक और असंयमाचरण कम होने वाले प्राणीकी अपेक्षा नीच गोत्रका भी उदय है।

इस धार्मिक उन्नतिको एक दूसरे प्रकारसे भी बतलाया जा सकता है और वह यह कि, इस धार्मिक उन्नतिके भी असंख्यात स्थान हैं, परन्तु समझनेके लिये यहाँ केवल एक शत स्थानोंकी कल्पना कीजिये। एक प्राणीने तो सिर्फ पांच स्थान तक उन्नति की है, दूसरेने पैंतालीस स्थान तक, तीसरेने पचपन स्थान तक, चौथेने पिच्यानवें स्थान तक उन्नति की है। जिसने पांच स्थान तक उन्नति कीहै उसके अपनेसे नीचेके स्थानोंकी अपेक्षा ऊँच गोत्रका उदय है और अपनेसे ऊपर वाले पैंतालीस आदि स्थानों वाले प्राणियोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय है। जिसने पैंतालीस स्थानोंतक उन्नति की है उसके अपने पाँच आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा ऊँच गोत्रका उदय है और अपनेसे ऊपरके पचपन आदि स्थानों वाले प्राणियोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय है। इसी तरहसे जिसने पचपन स्थान तक उन्नति की है वह अपनेसे नीचेके पैंतालीस आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा ऊँचा है—बड़ा है—और अपनेसे ऊपरके पिच्यानवें आदि स्थान वाले ईश्वरत्वको प्राप्त हुये आत्माओंसे नीचा है-छोटा है और जिसने पिच्यानवें स्थान तक उन्नति की है वह अपनेसे नीचे वाले पचपन आदि स्थान वाले प्राणियोंकी अपेक्षा बड़ा है ऊँचा है तथा अपनेसे ऊपर वाले स्थान वालोंकी अपेक्षा छोटा है इस तरह पर प्रत्येक प्राणीके अन्दर किसी एक अपेक्षासे ऊँच गोत्रका उदय है, और किसी दूसरी अपेक्षासे नीच गोत्रका उदय है—अर्थात् अपनी २ अलग २ अपेक्षासे प्राणी मात्रमें बड़ापना और छोटापना दोनों धर्म पाये जाते हैं। इस कारण ऊँचगोत्री कहलाना भी अपने २ धार्मिक सदाचरणोंको आदि लेकर नाना

विषयोंकी उन्नतिकी सीमा बतलानेका एक तरहका प्रकार है,और नीचगोत्री कहलाना भी अपने२ असंयमाचरणोंकी उन्नति (वृद्धि) को आदि लेकर नाना विषयोंकी अवनतिकी हदको कह कर समझानेका एक तरहका तरीक़ा है।

गाथोक्त ऊँच नीचगोत्रका सर्वांगी अर्थ

संसार-स्थित आत्माके अन्दर गोत्र कर्म नामका भी एक धर्म है, जिसका आत्माके सम्यक् चारित्रकी उन्नति होनेसे सम्बन्ध है। यह गोत्रकर्म, अग्रवाल, खंडेलवाल, परवार आदि, और गोयल, सिंहल, वत्सल, सोनी, सेठी, पाटोदी, काशलीवाल आदि; तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि; मूलसंघ, सेनसंघ आदि और दूसरे भी अनेक गण-गच्छादि भेद-प्रभेदोंको लिये हुए मनुष्य समूहोंके बतलाने वाले संसारके सांकेतिक और व्यवहारिक गोत्रधर्मोंसे सर्वथा भिन्न है। इसके जैन सिद्धान्तमें ऊँच गोत्र और नीच गोत्र ऐसे दो भेद माने गये हैं, इस कारणसे यह आत्माका स्वतन्त्र धर्म न रह कर सापेक्ष धर्म हो जाता है। अर्थात् नीच गोत्रके सद्भावमें ऊँच का होना और ऊँच गोत्रके सद्भावमें नीच गोत्रका होना तथा नीच गोत्रके अभावमें ऊंच गोत्रका न होना और ऊंच गोत्रके अभावमें नीच गोत्रका न होना, इस प्रकारकी व्यवस्था वाला धर्म हो जाता है। इसका वर्णन श्री गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी गाथा नं० १३ में किया गया है, जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

संतानक्रमेणणागत-जीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा।
उच्चं नीच्चं चरणं उच्चैर्नीच्चैर्भवेत् गोत्रम् ॥१३॥

इसका अर्थ बिलकुल साफ़ है और वह यह है कि—जीवके अपने स्वयंके (न कि पिता-प्रपितादिकोंके) आचरणकी 'गोत्र' संज्ञा है, ऊंचे आचरणको 'ऊँच गोत्र' कहते हैं। और नीचे आचरणको 'नीच गोत्र' कहते हैं। इस गाथामें "**संतानक्रमेणागत**" पद पड़ा हुवा है, जो जीवके अपने स्वयंके आचरणका विशेषण है; यह पद जीवके अपने स्वयंके आचरणका विशेषण होनेसे इसका अर्थ अपने पिता प्रपितादिकोंके कुलकी परिपाटीसे चला आया हुआ आचरण नहीं हो सकता; बल्कि जीवके अपने स्वयंके पूर्व पूर्व आचरणोंके संस्कार-जन्य इच्छासे उत्पन्न संतानरूप अपर-अपर आचरण होता है। इसलिये "**संतान-क्रमेणागतजीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा**" इस गाथार्धका साफ अर्थ हुआ—"पूर्व पूर्वके आचरणोंके संस्कार-जन्य इच्छासे उत्पन्न अपर-अपर आचरणोंके संतानक्रमसे आये हुये जीवके अपने स्वयंके आचरणकी गोत्र संज्ञा है"। यहाँ जीवके अपने स्वयंके आचरणोंके संतानक्रमको और समझ लेना चाहिये। नीचे उसीका स्पष्टीकरण किया जाता है:—

प्रत्येक जीवात्माके अंदर आचरणोंकी दो प्रकारकी धारायें बहती हैं—एक अधोधारा और दूसरी ऊर्ध्वधारा। बहती हुई परिणामोंकी ऊर्ध्वधाराको जब कोई बुरा कारण मिल जाता है तो उस बुरे कारणका निमित्त पाकर ऊर्ध्वधाराका प्रवाह मुड़कर अधोरूपमें बहना प्रारम्भ हो जाता है और बहते२ अधोस्थानके अंत तक वह धारा पहुँच जाती है, और यदि बीचमें ही उसे कोई अच्छा कारण मिल गया तो वह उस अच्छे कारणका निमित्त पाकर पुनः अधःसे ऊर्ध्वरूपमें बहने लगती है और बहते २ ऊर्ध्वस्थानके अन्तको प्राप्त हो जाती है, तथा आत्माको अपने शुद्ध-बुद्ध-सिद्धस्वरूपमें विराजमान कर देती है। इसी तरहसे बहती हुई परिणामोंकी अधोधाराको जब कोई अच्छा कारण मिल जाता है तो उस अच्छे कारणका निमित्त पाकर उस अधोधाराका

प्रवाह मुड़कर ऊर्ध्वरूपमें बहने लगता है और बहते २ ऊर्ध्वस्थानके अन्त तक वह धारा पहुँच जाती है, और यदि बीचमें ही उसे कोई बुरा कारण मिल गया तो वह उस बुरे कारणका निमित्त पाकर पुनः ऊर्ध्वमे अधोरूपमें बहने लगती है और बहते बहते अधःस्थानके अन्तको प्राप्त हो जाती है और आत्माको अपने निगोदके अविनाशी पर्याय ज्ञानमें स्थापन कर देती है। अर्थात् प्रत्येक आत्माके अन्दर दो प्रकारके परिणाम होते हैं, एक संयमाचरणरूप परिणाम और दूसरे असंयमाचरणरूप परिणाम। काल-लब्धिका निमित्त पाकर जब यह आत्मा नित्य निगोदसे निकलता है तब अहिंसा, सत्य, शीलादिके अभ्यास साधनका अच्छा निमित्त पाकर इसके परिणाम संयमाचरणरूप होने लगते हैं। जब एक परिणाम संयमाचरणरूप होता है तब उसका निमित्त पाकर उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे ऊपरका, ऊँचा तीसरा परिणाम होता है; जब तीसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे ऊपर का ऊँचा चौथा परिणाम होता है। इस तरह पर पूर्व२ परिणामोंके संस्कारसे उनका सन्तान दर सन्तानरूप उत्तर-उत्तर परिणाम ऊँचेसे ऊँचे संयमाचरणरूप (यदि बीचमें कोई हिंसा झूठ चौर्यादिके अभ्यास-साधनका निमित्त नहीं मिला तो) होते चले जाते हैं और होते होते अन्तमें उच्चताकी सीमाको प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको अपने सच्चिदानन्दरूप मोक्ष स्वभावमें स्थित कर देते हैं।

इसी तरह पर जब यह आत्मा मुनिपद धारण करके और ग्यारहवें गुणस्थानको प्राप्त होकर वहाँसे गिरता है तब प्रमाद, कषाय, असत्य, कुशीलादिके अभ्यास-साधनका बुरा निमित्त पाकर इसके परिणाम असंयमाचरणरूप होने लगते हैं। जब एक परिणाम, असंयमाचरणरूप होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे उसकी संतान-रूप, उससे गिरता हुआ, नीचेका दूसरा परिणाम होता है। जब दूसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे गिरता हुआ नीचे का तीसरा परिणाम होता है। जब तीसरा परिणाम होता है तब उसका निमित्त पाकर, उसके संस्कारसे, उसकी संतानरूप, उससे गिरता हुआ, नीचेका चौथा परिणाम होता है। इस तरह पूर्व पूर्व परिणामोंके संस्कारसे, उनकी संतान दर संतानरूप, उत्तर उत्तर परिणाम, नीचेसे नीचे असंयमाचरणरूप (यदि बीचमें कोई अहिंसा-सत्य-शीलादिके अभ्यास साधनका अच्छा निमित्त नहीं मिला तो) होते चले जाते हैं, और होते होते अन्तमें नीचताकी सीमाको प्राप्त कर लेते हैं और आत्माको अपने अविनाशी स्वरूप वाले निगोदके पर्यायज्ञानमें स्थापन कर देते हैं।

अब यहाँ पर परिणामोंके संतान दरसंतान रूपसे अधोरूपमें गिरने, और उर्ध्वरूपमें चढ़नेको दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

किसी मनुष्यको दुःसंगतिके कारण जूवा खेलनेका व्यसन लग गया। और वह अपने मित्र जुवारियोंमें जाकर प्रति दिन जूवा खेलने लगा। जब अपना सारा धन जूवेमें हार गया तो उसे फिर जूवा खेलनेके लिये धनकी आवश्यकता हुई तब उसने सोचा कि चोरी द्वारा धन प्राप्त करके जूवा खेलना चाहिये, ऐसा सोच कर वह चोरी करने लगा और चोरी में धन प्राप्त कर करके जूवा खेलने लगा। जब चोरी करनेमें अतिशय निपुण हो जानेके कारण चोरीमें उसे पर्याप्त धन मिलने लगा तो जूवा खेलनेमें हार जानेके उपरान्त भी उसके पास धन बचने लगा और बहुतसा

धन उसके पास हो गया। एक दिन वह किसी वेश्याके द्वारके सामने होकर जा रहा था कि उसके एक जुवारी मित्रने उसे आवाज़ देकर वहाँ बुला लिया; जब वेश्या का उससे साक्षात् हुवा तो वेश्याने अपने हाव भाव-कटाक्षोंसे उसे अपनेमें अनुरक्त कर लिया और वह वेश्या सेवन करने लगा। तथा चोरी द्वारा पर्याप्त धन ला ला कर वेश्याको देने लगा। वेश्या-सेवनमें विषयानन्दकी वृद्धिके लिये मदिरा-पानका चस्का भी वेश्या ने उसे लगा दिया और वह रात दिन मदिराके नशेमें चूर रहने लगा। मदिराके नशेमें खाद्य-अखाद्यका विचार भी उसे न रहा और वह वेश्याके साथ मांसादि अखाद्य वस्तुओंको भी भक्षण करने लगा। जब मांस-भक्षणकी उसे आदत हो गई तो वह मांस प्राप्तिके लिये जंगलादिमें जाकर बिचारे दीन अनाथ एवं कायर पशुओंका वध (शिकार) भी करने लगा और मार मार कर उन्हें खाने लगा तथा अतिशय क्रूर परिणामी हो गया। क्रूर परीणामी हो जाने और नशेमें चूर रहनेके कारण वह परस्त्रियोंके साथ बलात्कार भी करने लगा और बल पूर्वक उनका सतीत्व हरण करके अतिशय व्यभिचारी और लोकनिंद्य हो गया। इस तरह पर एक जूआ व्यसनके लग जानेके कारण उसके सन्तान दर सन्तानरूप चौर्य्यादि व्यसनों के सेवनकी इच्छा और रुचिवाले परिणाम होनेके कारण वह सातों व्यसनोंका सेवन करने वाला अतिशय पापी, भ्रष्ट और परिणामोंको नीचे गिराने वाला दुर्गति-पात्र हो गया।

इसी तरहसे एक जीव अपनी शुभ काललब्धिको पाकर नित्य निगोदसे निकलता है और अपने ऊँचसे ऊँचे विशुद्ध परिणामोंको करता हुआ मनुष्य पर्याय धारण करता है। मनुष्य पर्याय धारण करके आठ वर्ष की अवस्था होने पर सम्यग् दर्शनको प्राप्त होकर योग्यता प्राप्त होने पर मुनिव्रत धारण करके और अपने परिणामों को सन्तान दर सन्तानरूप उत्तरोत्तर ऊँचेसे ऊँचे और विशुद्ध बनाता हुआ और समय प्रति समय विशुद्धताकी वृद्धि करता हुआ अपनी परिणामधाराको ऊर्ध्व रूपमें बढ़ाता हुआ केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है और अन्तमें सम्पूर्ण कर्मोंसे सर्वथा मुक्ति लाभ करके अपने शुद्ध-बुद्ध सिद्ध स्वरूपमें जा विराजता है।

इस तरह पर मेरा विचार है कि जीवके, अपने स्वयंके एकके कारणसे दूसरे और दूसरेके कारणसे तीसरे होने वाले शुभाऽशुभ आचरणको ही संतानक्रमसे आया हुआ जीवका आचरण कहते हैं। यदि मेरा उपर्युक्त विचार जिनागमसे विरुद्ध नहीं है तो क्या मैं यह कह सकता हूँ कि इससे गोत्र कर्मोदयके सम्बन्धमें लगाये हुये सम्पूर्ण दोषोंका अपहार हो जावेगा ? गोत्र कर्म-व्यवस्था प्रकृति-विकाशके विरुद्ध है, वह सार्वकालिक और चतुर्गतिके सारे जीवों पर लागू होने वाली नहीं है, वह केवल मनुष्यों और मनुष्योंमें भी केवल भारतवासियों के व्यवहारानुसार बनी है, इत्यादि और भी जो दोष गोत्र-कर्म-व्यवस्था पर लगाये जाते हैं, वे सब दोष श्री गोमट्टसार कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथाका उपर्युक्त अर्थ मानने पर दूर हो सकेंगे, यदि सब दोष दूर हो सकेंगे तो १३ वीं गाथाका उपर्युक्त अर्थ ही सर्वाङ्गी अर्थ कहलाएगा। अस्तु।

संक्षेपमें गोमट्टसार कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथाकी व्याख्या करने और यह बतलानेके बाद कि 'ऊँच-नीच गोत्र कर्मोदय क्या है ?', अब मैं चारों गतियोंके जीवोंमें गोत्रकर्मके उदयकी कुछ व्याख्या करना चाहता हूँ।

देवोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जैनसिद्धान्तमें, देवोंमें जो ऊँच गोत्रका उदय

बतलाया है वह मनुष्यसमूहकी अपेक्षासे है, उसका यह भाव नहीं है कि उनमें नीच गोत्रका उदय है ही नहीं। जब किसी हीन शक्तिके मुकाबिलेमें उनमें उच्च गोत्रका उदय है तो किसी महान् शक्तिके मुकाबिलेमें उनमें नीच गोत्रका उदय भी होना चाहिये । क्योंकि गोत्र धर्म सापेक्ष धर्म है। जिनागममें भी देवोंमें चार मूलभेद और इन्द्र सामाजिक, त्रायसत्रिशत् आदि उत्तर भेद माने गये है, जो उनमें परस्पर उच्चगोत्र व नीच गोत्रका होना सिद्ध करते हैं । इसके अतिरिक्त पंचमगुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान वाले मनुष्योंकी अपेक्षा उनमें नीचगोत्रका उदय है। मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि देवोंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि असुर कुमारादि पापाचारी देवोंमें नीच गोत्रका उदय है। चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा भी असुरकुमारादि पापी मिथ्यादृष्टि देवोंमें नीच गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि,व तीर्थंकर प्रकृति बद्ध सम्यक्त्वी नारकियोंकी अपेक्षा भी असुर कुमारादि दुराचारी और मिथ्यादृष्टि देवोंमें नीच गोत्रका उदय है। पंचमगुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा चतुर्थगुणस्थानी देवोंमें नीच गोत्रका उदय है । चतुर्थ गुणस्थानी तिर्यंचों और चतुर्थगुणस्थानी व तीर्थंकरप्रकृतिबद्ध सम्यक्त्वी नारकियोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टिदेवोंमें उच्च गोत्रका उदय है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों, व नारकियोंके सम्यक्त्वसे सम्यग्दृष्टि देवोंका तद्रूप सम्यक्त्व विशेष निर्मल होता है। और सामान्यतया तिर्यंच समूह और नारकी समूहकी अपेक्षा देव समूहमें ऊँच गोत्रका उदय है ही। इस तरह पर विचार करनेसे देवों में नानादृष्टिकोणकी अपेक्षा उच्च व नीच गोत्रोदय प्रत्यक्ष सिद्ध है। मेरे विचारसे उपर्युक्त रीतिके अनुसार देवोंमें गोत्रोदय माननेसे, जैनागममें जो देवोंमें उच्चगोत्रोदय कहा है उससे विरोध नहीं आसकता; क्योंकि वह सामान्यतया मनुष्यसमूहकी अपेक्षासे देवसमूहमें उच्च गोत्रका उदय है, इसी अपेक्षासे कहा हुआ जान पड़ता है। यहाँ अपेक्षा-भेदका स्पष्टीकरण न करके गुप्त रख लिया गया है। विचार करनेसे यहाँ उपर्युक्त प्रकार अपेक्षा ही ठीक बैठती है और वही युक्ति संगत प्रतीत होती है।

मनुष्योंमें ऊँच नीच गोत्रोदय

जिनागममें, मनुष्योंमें जो सामान्यतया ऊँच व नीच दोनों गोत्रोंका उदय बतलाया गया है वह अपने अपने सदाचरण दुराचरणके आधार पर परस्परकी अपेक्षा से है। भोग भूमिके मनुष्योंके जो केवल उच्च गोत्रका उदय बतलाया है वह उनकी मंदकषायरूप उच्च प्रवृत्तिकी अपेक्षासे है। भोगभूमिके मनुष्योंकी अपेक्षा यहाँ कर्मभूमिके अधिकांश मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है। भोगभूमिमें भी कई मनुष्य सम्यक्दृष्टि हैं तथा कई विशेष मंद कषाय वाले हैं तथा कई मनुष्य कम मंद कषाय वाले हैं और मिथ्यादृष्टि भी हैं अतः वहाँ भी उनमें परस्परकी अपेक्षा ऊँच गोत्र व नीच गोत्रका उदय होना सिद्ध है। अर्थात् विशेषमंद कषायवाले और सम्यगदृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा कममन्द कषायवाले और मिथ्यादृष्टि जीव नीच गोत्रोदयवाले हैं और कममंद कषाय वाले तथा मिथ्यादृष्टि मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यक्दृष्टि और विशेषमंद कषाय वाले मनुष्य उच्च गोत्रोदय युक्त हैं। सामान्यतया देवोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है तथा तिर्यंचों व नारकियोंकी अपेक्षा मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। विशेषतया भोग भूमिके चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंकी

अपेक्षा कर्म भूमिके चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें अपने अपने सम्यक्त्वकी निर्मलतानुसार उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका उदय है, मिथ्यादृष्टि असुरकुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें अपने अपने सम्यक्त्वकी निर्मलतानुसार ऊँच नीच दोनों गोत्रोंका उदय है। चतुर्थगुणस्थानी तिर्यंचों व नारकियोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्यों में उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थगुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानीसे लेकर चतुर्थदश गुणस्थानी तक मनुष्योंमें ऊँच गोत्रका उदय है। देव ऋषिदेवोंकी अपेक्षा अष्टम प्रतिमाधारी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका, चतुर्थगुणस्थानी मनुष्योंमें नीचगोत्रका और पंचम गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्दृष्टि व तीर्थंकर प्रकृतिबद्ध नारकियोंकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि मनुष्योंमें नीच गोत्रका और चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्योंमें नीच गोत्रका उदय है। पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी मनुष्योंमें उच्चगोत्रका उदय है। इस तरह पर व्यक्तिगत रूपसे तिर्यंचों और नारकियोंके मुक़ाबिलेमें भी मनुष्योंमें नीच गोत्रता अनुभव गोचर होती है।

आर्योंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

श्रीविद्यानन्दादि जैनाचार्योंने अनृद्धिप्राप्त आर्योंके क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य आदि भेद किये हैं और "उच्चगोत्रोदय आदि गुणवाले जो हों वे आर्य हैं" यह आर्योंका लक्षण किया है। यहाँ आर्योंको क्षेत्र-जाति-कर्म आदिका विशेषण दिया जाना इस बातको बतलाता है कि उपर्युक्त आर्य अपने अपने क्षेत्र, जाति, कर्म आदि एक एक रूपसे ही आर्य हैं—दूसरे रूपोंसे या पूर्ण रूपसे आर्य नहीं। अर्थात् उनमें अधिकाँश रूपसे या अल्पांश रूपसे आर्यत्वकी न्यूनता है। यह बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि, कोई मनुष्य तो केवल क्षेत्ररूपसे ही आर्य है अन्य जात्यादि चारों रूपोंसे आर्य नहीं। अर्थात् केवल आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके कारण आर्य है, अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, वह व्यभिचार जात है, कर्म (जीविका) म्लेच्छों जैसे माँस विक्रयादि करता है, दर्शन चारित्रका उसमें नाम नहीं। कोई आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने और ब्राह्मण क्षत्रियादि होनेके कारण आर्य है—अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, वह जीविका म्लेच्छोंकी सी मद्य विक्रयादि करता है, दर्शन चारित्र उसमें बिल्कुल नहीं। कोई आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने, ब्राह्मण-क्षत्रि-वैश्यादि होने, खेती आदि सावद्यकर्म, कपड़ेका व्यापार आदि अल्प सावद्यकर्म मणि-मुक्तादिका व्यापार आदि असावद्य कर्म करने वाला होनेके कारण आर्य हैं—अन्य कारणोंसे आर्य नहीं, दर्शन चारित्रको वह नहीं धारण कर रहा है। कोई आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होने, शुद्ध जाति होने, अल्प सावद्य या असावद्य कर्म करने वाला होने और चारित्र धारण करने वाला होनेके कारण आर्य है--अन्य कारणसे आर्य नहीं, वह शुद्ध दर्शन वाला नहीं। अन्य कोई पाँचों प्रकारसे आर्य है अर्थात् आर्य क्षेत्रमें उत्पन्न होने, शुद्ध जाति होने, असावद्य कर्म करने वाला होने, चारित्रवान् होने और सम्यग्दर्शन वाला होनेके कारण आर्य है। इन सब आर्योंमें जो केवल एक प्रकारसे आर्य है, जिसमें आर्यत्वकी अधिकाँश रूपसे न्यूनता है, वह अधिकाँश रूपसे असंयम भाव वाला होने और अत्यल्पांशरूपसे संयमभाव वाला

होने अथवा पूर्णांशरूपसे असंयमभाववाला होने और संयम भाव वाला न होनेके कारण नीच गोत्र वाला है। उसके नीच गोत्रका उदय है। इसलिये उसमें अधिकाँशरूपसे आर्यत्वकी न्यूनता होनेके कारण "उच्चाचरणरूप उच्चगोत्रोदय आदि गुण वाला आर्य है" यह लक्षण नहीं घटता। और जो एकसे अधिक प्रकारसे आर्य है, जिसमें अल्पाँशरूपसे आर्यत्वकी न्यूनता है अथवा पूर्णांशरूपसे आर्यत्वकी प्रादुर्भूति है, वह अल्पाँशरूपसे असंयमभाव वाला न होने और अधिकांशरूपसे संयमभाव वाला होने व पूर्णांशरूपसे संयम भाव वाला होनेके कारण ऊँच गोत्र वाला है। उसके ऊँच गोत्रका उदय है। इसलिये उसमें आर्यत्व की अल्पांशरूपसे न्यूनता अथवा पूर्णांशरूपमें आर्यत्व की प्रादुर्भूति होनेके कारण उपर्युक्त आर्यका लक्षण घट जाता है। जिसमें असंयम भाव अधिक और संयम भाव कम है उसे असंयमकी अधिकताकी अपेक्षा नीच गोत्री ही कहेंगे और जिसमें संयमभाव अधिक व पूर्ण है और असंयमभाव कम अथवा नहीं है उसे संयमकी अधिकता वा पूर्णताकी अपेक्षा ऊँच गोत्री ही कहेंगे। अर्थात् मनुष्यमें जितने अंशोंमें असंयम भाव है, उतने अँशोंमें उसके नीच गोत्रका उदय है और जितने अंशोंमें संयमभाव है उतने अँशोंमें उसके उच्च गोत्रका उदय है। इस तरह पर प्रत्येक मनुष्य प्राणीमें दोनों गोत्रोंका उदय समय समय पर पाया जाता है।

म्लेच्छोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

यद्यपि श्री विद्यानंदाचार्यने नीच आचरणरूप नीचगोत्रोदय आदि लक्षण वालोंको म्लेच्छ कहा है तथापि उनमें उच्च गोत्रोदय भी कहा जा सकता है। उच्च गोत्रोदय पाया भी जाता है। यद्यपि उच्चाचरणरूप उच्चगोत्रोदय आदि गुणवाले क्षेत्रादि पाँचों प्रकारके आर्यत्वकी पूर्णताको प्राप्त हुये आर्योंकी अपेक्षा उनमें नीच गोत्रका उदय ही पाया जाता है। तथापि उनमें, म्लेच्छों म्लेच्छोंकी अपेक्षा परस्परमें, उच्च गोत्र और नीच गोत्र भी पाया जाता है। उदाहरणके लिये जिन्हें हम म्लेच्छ समझते हैं उनमें सुना जाता है कि एक बादशाह ऐसे त्यागी हुये हैं जो राज्य कोषसे एक पैसा भी अपने भरण पोषणके लिए न लेकर किसी दूसरे प्रकारसे—अपने स्वयं शरीरसे परिश्रम करके—आजीविका करते थे और अपना व अपनी रानीका भरण पोषण करते थे दूसरे एक अपने शरीरसे भी अतिशय निस्पृह और दयालु महानुभाव उनमें हुये हैं, जो अपने शरीरके व्रणोंमें पड़े हुए कृमियों (कीड़ों) को व्रणोंमेंसे गिर जाने पर भी उठा उठा कर पीछे उन व्रणोंमें ही रख लिया करते थे। और तीसरे एक ऐसे दानी बादशाह भी उनमें हो गये हैं जो दीन दुखियोंकी पुकारको बहुत ही गौरसे सुना करते थे और उन्हें बहुत ही अधिक धन दानमें दिया करते थे। आज भी उनमें अनेक दानी, त्यागी, सत्य वादी, दयालु और अपनी इन्द्रियों पर काबू रखने वाले मौजूद हैं, जिनकी उदारता, सहायता और परोपकारता आदिसे कितने ही लोग उपकृत हुए हैं और हो रहे हैं।

अनेक गरीब तो उनकी कृपासे लक्ष्मीपति तक बन गये हैं। इस प्रकार इन म्लेच्छोंकी उदारता, दानशीलता निस्पृहता आदि उच्च गोत्ररूप उच्चाचरणके कई दृष्टान्त दिये जा सकते हैं नीच गोत्ररूप नीचाचरणोंके दृष्टान्तोंके लिखनेकी तो यहां कोई आवश्यकता ही नहीं क्यों कि असमर्थों पर इनके किये हुये हज़ारों जुल्म प्रसिद्ध ही हैं, और आज भी ये लोग नाना प्रकारके अगणित अमानुषिक, जुल्म गरीबों पर किया ही करते

हैं। इस तरह पर इनके परस्परकी अपेक्षा और आर्यत्व की न्यूनताको प्राप्त हुये क्षेत्रार्यादि अपूर्ण आर्योंकी अपेक्षा भी नीच गोत्र और उच्च गोत्र दोनोंके उदय इन म्लेच्छोंमें सिद्ध हैं।

म्लेच्छोंमें उपर्युक्त प्रकारसे उच्च गोत्रोदय तथा इसी तरह पर अपूर्ण आर्योंमें भी नीच गोत्रोदय मानने पर विद्यानन्द स्वामीके आर्य म्लेच्छ विषयक स्वरूप कथनसे विरोध भी नहीं आ सकता, क्योंकि उन्होंने आर्योंमें, उच्च गोत्रोदय, आर्यत्वके क्षेत्रादि रूपोंकी, और उच्चाचरणोंकी अधिकताकी अपेक्षा कहा है तथा म्लेच्छोंमें नीच गोत्रोदय, नीचाचरणोंकी अधिकताकी अपेक्षा कहा है। ऐसा मेरा विचार है।

नारकियोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जैन सिद्धान्तमें नारकियोंमें जो नीच गोत्रका उदय कहा है वह उनके विशिष्ट पापोदयकी अपेक्षा और देव मनुष्यादिके मुकाबिलेमें हीन होनेकी अपेक्षासे कहा है, परन्तु इसका यह प्रयोजन नहीं है कि उनमें ऊँच गोत्रका उदय है ही नहीं। विचार करने पर उनमें अपेक्षाकृत ऊँच व नीच दोनोंका उदय विद्यमान है, ऐसा प्रतीत होता है। सामान्यतया देव-मनुष्य-तिर्यंचोंकी अपेक्षा तो उनमें नीच गोत्रका उदय है ही, परन्तु व्यक्तिगत रूपसे मिथ्यादृष्टि असुर कुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी, तीर्थंकर व प्रकृतिबद्ध नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि नारकीसे देवका तद्रूप सम्यक्त निर्मल होता है। मिथ्यादृष्टि मनुष्यकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी मनुष्यकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी नारकीके नीच गोत्रका उदय है क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे मनुष्यका तद्रूप सम्यक्त्व निर्मल होता है। मिथ्यादृष्टि तिर्यंचकी अपेक्षा सम्यक्त्वी नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी तिर्यंचकी अपेक्षा सम्यक्त्वी नारकीके नीच गोत्रका उदय है क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे तिर्यंचका तद्रूप सम्यक्त्व अपेक्षाकृत अच्छा होता है।

इसके अतिरिक्त नारकियोंमें परस्परकी अपेक्षा मे भी उच्च व नीच गोत्रका उदय पाया जाता है। सातवें नरकके नारकियोंसे ऊपरके नारकियोंके उत्तरोत्तर ऊँच गोत्रका है तथा ऊपरके नारकियोंसे नीचेके नारकियोंके नीचका उदय है। मिथ्यादृष्टि नारकीकी अपेक्षा सम्यग् दृष्टि नारकीके उच्च गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी नारकीकी अपेक्षा मुनि हो सकने वाले, केवली हो सकने वाले, और तीर्थंकर हो सकने वाले नारकियोंके उत्तरोत्तर उच्च गोत्रका उदय है। इस तरह पर नारकियोंमें उच्च व नीच दोनोंका उदय पाया जाता है। इस ऊँचता-नीचता से इनकार नहीं किया जा सकता।

तिर्यंचोंमें ऊँच-नीच गोत्रोदय

जिनागममें तिर्यंचोंके जो नीच गोत्रका उदय बतलाया गया है उसे देव मनुष्योंकी अपेक्षा समझना चाहिये, उसे उनमें स्थायी रूपसे मान लेना सत्यतासे इनकार करना है, उनमें परस्परमें ऊँच नीचता प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होती है। पशुओंमें सिंह, शार्दूल, हाथी, अश्व, वृषभ आदि ऊँचे और अच्छे समझे जाते हैं, तथा सर्प, वृश्चिक, शृगाल, बिडाल आदि नीचे और बुरे समझे जाते हैं।

पक्षियोंमें हंस मयूर, तोता, मैना, कोकिला सारसादि ऊँचे और अच्छे समझे जाते हैं तथा काक, कुक्कुट, गृद्ध, उलूक, चील, चिमगादड़ आदि नीचे और बुरे समझे जाते हैं। पशु-पक्षियोंमें यह अच्छा व बुरा तथा ऊँचा व नीचा समझा जाना क्या है? यह ऊँच गोत्रोदय व नीच गोत्रोदय ही है। जैन आचार दृष्टिसे मिथ्यादृष्टि असुरकुमारादि पापाचारी देवोंकी अपेक्षा सम्यक्दृष्टि तिर्यंचोंमें व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है क्योंकि तिर्यंचके सम्यक्त्वसे देवोंका सम्यक्त्व निर्मल होता है। चतुर्थ गुणस्थानी देवोंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचों में उच्च गोत्रका उदय है मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की अपेक्षा चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें ऊँच गोत्रका उदय है। सम्यक्त्वी मनुष्योंकी अपेक्षा सम्यक्त्वी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि तिर्यंचोंके सम्यक्त्व से मनुष्योंका सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्यक्त्वी मनुष्योंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है। पंचम गुणस्थानी मनुष्योंकी अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें नीच गोत्रका उदय है, क्योंकि तिर्यंचोंके व्रतसे मनुष्योंका व्रत ऊँचे दर्जेका होता है। मिथ्या दृष्टि नारकीकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि व चतुर्थ व पंचम गुणस्थानी तिर्यंचोंमें उच्चगोत्रका उदय है। सम्यक्त्व नारकीकी अपेक्षा सम्यक्त्वी तिर्यंचोंमें उच्च गोत्रका उदय है, क्योंकि नारकीके सम्यक्त्वसे तिर्यंचका तद्रूप सम्यक्त्व निर्मल होता है। सम्क्त्वो नारकी की अपेक्षा पंचम गुणस्थानी तिर्यंचमें उच्च गोत्र का उदय है। इस तरह पर नाना दृष्टिकोणोंसे और नाना अपेक्षाओंसे तिर्यंचोंमें भी उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका उदय दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार ऊँच व नीच दोनों गोत्रोदय, देव, मनुष्य, नरक, तिर्यंच, इन चारों गतियोंके प्राणियों में प्रत्यक्ष अनुभव गोचर होते हैं।

इसमें लेखकके मन्तव्य

(१) खंडेलवाल, अग्रवाल, परवार, पाटोदी सेठी, सोनी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दिगम्बर श्वेताम्बर, मूलसंघ सेनसंघ अर्धफालक संघ और गणगच्छादि गोत्र कर्म नहीं हैं। ये केवल भिन्न भिन्न प्रकारके मनुष्य समूहोंको बतलाने वाले संकेत मात्र हैं।

(२) अपनी लौकिक व धार्मिक प्रत्येक विषयकी उन्नति अवनतिको 'गौत्रकर्म' कहते हैं।

(३) लौकिक विद्याओं जैसे यंत्र विद्या, गायन, वाद्य, युद्ध, वैद्यक, ज्योतिष आदि विद्याओं की उन्नति अवनति भी गोत्र कर्म (लौकिक) के ही भेद हैं।

(४) जैनसिद्धान्तमें विवक्षित गोत्रकर्म संयमा-चरण असंयमाचरणकी उन्नति अवनति रूप है।

(५) गोम्मटसार-कर्मकाण्डकी १३ वीं गाथा का वह आशय नहीं है जो आमतौरसे लिया जाता है। उसमें पड़े हुए 'सन्तानक्रमेणागत' विशेषणमें अपने ही, आचरणकी परम्परा विवक्षित है—पिता प्रपितादिके आचरणकी नहीं।

(६) जीवका अपना स्वयंका आचरण ही अपना गोत्र कर्म है।

(७) अपने पिता प्रपितादिकोंसे आया हुवा आचरण अपना गोत्रकर्म नहीं है।

(८) चारों गतिके जीवोंमें ऊँच व नीच दोनों गोत्रकर्मोंका उदय प्रत्यक्ष सिद्ध व अनुभव गोचर है।

(९) इस लेखमें सिद्ध किये हुये प्रत्येक प्राणीके ऊँच-नीच गोत्रकर्मोदयसे और जिनागममें वर्णित देवोंमें उच्च मनुष्योंमें ऊँच व नीच, व नारकी तिर्यंचोंमें, नीच गोत्र कर्मोदयसे विरोध नहीं है।

(१०) अपने अपने ऊँचे व नीचे आचरणानुसार समय समय प्रति ऊँच व नीच गोत्र कर्मका रसानुभव होता रहता है।

(११) गोत्रकर्म संसारस्थ आत्माका सापेक्ष धर्म है।

(१२) गोत्र कर्मोदय स्थायी नहीं है। आदि,

विद्वानोंसे विनम्र प्रार्थना

इस लेखमें ऊँच-नीच गोत्रकर्मोदय पर जो कुछ भी लिखा गया है, वह अनेक विद्वानोंके गोत्र कर्म विषयक लेखादिकोंके अध्ययन-मनन परसे बना हुआ केवल मेरा अपना विचार है। मैं जिनागमका अभ्यासी और जानकार स्वल्प भी नहीं हूँ, केवल नाम मात्रको स्वाध्याय कर लेता हूँ, इसलिये दया करके विद्वान लोग वात्सल्य भाव पूर्वक बतलावें कि यह लेख जिनागमसे कितना अनुकूल व कितना प्रतिकूल है, ताकि मैं अपने विचारोंमें सुधार कर सकूं।

विचार-स्वातन्त्र्यके कारण, इस लेखमें मुझसे अत्युक्तियाँ अथवा अन्योक्तियाँ भी बहुत हुई होंगी, अतः कृपा कर उन मेरी अत्युक्तियों और अन्योक्तियोंको बतलानेका जरूर कष्ट उठावें, इस प्रकार समाजके सभी विद्वानोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है।

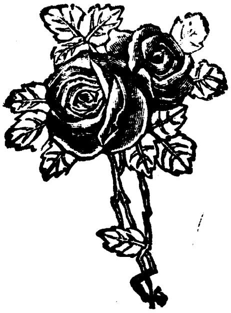

मेंडकके विषयमें एक शंका

[ले०—श्री दौलतराम 'मित्र']

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जातिके जीव लिंगकी दृष्टिमें गर्भज और अगर्भज (समूर्च्छन) दोनों प्रकारके होते हैं ऐसा गोमट्टसार-जीवकाण्डकी गाथा नं० ७९ से जाना जाता है।

परन्तु सवाल यह है कि—उनमेंसे मेंडक-वर्गके जीव गर्भज हैं या समूर्च्छन ?

प्रमाण तो इसी बातके मिलते हैं कि यह जीव समूर्च्छन हैं। देखिये—

(१) "जीवे दादुर (मेंडक) बरसे तोय।
सुन बानी सरजीवन होय ॥" १४ ॥

यह आचार्य अचलकीर्ति-कृत संस्कृत विषापहार का भाषापद्यानुवाद परमानन्दजी कृत है।

इसमें बतलाया है कि—हे भगवन्! जिस प्रकार पानी बरसने पर मेंडक सरजीवन हो जाते हैं—मरे मेंडक पीछे जी उठते हैं—उसी प्रकार आपकी वाणी सुन कर भव्य जीव नवजीवन (ज्ञान-चेतना, सम्यक्त्व) प्राप्त कर लेते हैं *।

(२) *द्वितीया दोषहानिः स्यात् काचित् मंडूक चूर्णवत्*
आत्यंतिकी तृतीयात्तु गुरू-लाघव-चिन्तया ॥"

—यशोविजय (श्वे) अध्यात्मसार १-४१

इस श्लोककी टीकामें खुलासा किया गया है कि—जिस प्रकार मंडूकके चूर्णसे पीछे बहुतसे मंडूक उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार अशुभ (पाप-बन्धक) क्रियाके चूर्ण (हानी) मेंसे शुभ (पुण्य-बन्धक) क्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

'(३) 'मेंडक तो ऐसा विचित्र जन्तु है, और अपने जन्मका ऐसा सुन्दर नाटक दिखलाता है कि लोग दंग रह जाते हैं। किसी मेंडकका चूर्ण बनाकर और बारीक कपड़ेसे छान कर शीशीमें बन्द कर लीजिये। वर्षातमें उस चूर्णको पानी बरसते समय ज़मीन पर डाल दीजिये, तुरन्त ही छोटे २ मेंडक कूदने लगेंगे।'

—पं०रघुनन्दन शर्म्मा, अक्षर विज्ञान पृ०२२

(४) देखनेमें आता है कि यदि आज वर्षात हो जाय तो कल ही मटीले जलाशयोंमें (जैसे पोखरे, तालाब कच्चे कुएँ आदि) दो प्रकारके मेंडक पाये जावेंगे। एक तो दो दो सेर वजनके बड़े बड़े और दूसरे तीन तीन माशे तकके छोटे २। कारण यह जान पड़ता है कि—जिन मेंडकोंके मृतक शरीर अक्षय (पूरे) रह कर मिट्टीमें दब गये उनके तो बड़े २ मेंडक बन जाते हैं, और जिनके मृतक शरीरके टुकड़े टुकड़े हो गये उनके छोटे २ मेंडक बन जाते हैं।

---

*किञ्चसद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः।
सम्यग् विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥

—पंचाध्यायी, २-७१८

(५) यदि कोई कहे कि अंडे गर्भज होते हैं, मेंडकके अंडे देखे गये हैं, तो उत्तर यह कि अंडों अंडोंमें फ़र्क है, अंडे गर्भज (रजवीर्यज) और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकारके होते हैं। जैसा कि पंडित बिहारीलालजी चैतन्य-रचित "बृहद् जैन शब्दार्णव' (पृ० २७७) में लिखा है कि—

"नोट ३—अंडे दो प्रकारके होते हैं, गर्भज और सम्मूर्च्छन। सीप, घोंघा, चींटी (पिपिलिका) मधुमक्षिका, अलि (भौंरा), बर्र, ततईया, आदि बिकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुन्द्रिय) जीवोंके अंडे सम्मूर्च्छन ही होते हैं, जो गर्भसे उत्पन्न न हो कर उन प्राणियों द्वारा कुछ विशेष जातिके पुद्गल स्कंधोंके संग्रहीत किए जाने और उनके शरीरके पसेव या मुखकी लार (ष्ठीवन) या शरीरकी उष्णता आदिके संयोगसे अंडाकारसे बन जाते हैं। या कोई सम्मूर्च्छन प्राणीके सम्मूर्च्छन अंडे योनि द्वारा उनके उदरसे निकलते हैं, परन्तु वे उदरमें भी गर्भज प्राणियोंके समान पुरुषके शुक्र और स्त्रियोंके शोणितसे नहीं बनते। क्योंकि सम्मूर्च्छन प्राणी सब नपुंसक लिंगी ही होते हैं। और न वे योनिसे सजीव निकलते हैं, किंतु बाहर आने पर जिनके उदरसे निकलते हैं उनकी या उसी जातिके अन्य प्राणियोंकी मुखलार आदिके संयोगसे उनमें जीवोत्पत्ति हो जाती है।"

"नोट ४—सम्मूर्च्छन प्राणी सर्व ही नपुंसक लिंगी होने पर भी उनमें नर मादीन अर्थात् पुलिंगी स्त्रीलिंगी होनेकी जो कल्पना की जाती है, वह केवल उनके बड़े छोटे मोटे पतले शरीराकार और स्वभाव शक्ति और कार्यकुशलता आदि किसी न किसी गुण विशेषकी अपेक्षासे की जा सकती है। वास्तवमें उनमें गर्भज जीवोंके समान शुक्र-शोणित-द्वारा संतानोत्पत्ति करनेकी योग्यता नहीं होती।"

(६) ऐसी मुर्गियाँ मौजूद हैं, जो बिना मुर्गे का संयोग किए अंडे देती हैं, पर वह अंडे सजीव नहीं होते।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि मेंडक सम्मूर्च्छन है, गर्भज नहीं है।

मेंडकके विषयमें—यहाँ पर एक खास वार्ता (कथा) विचारणीय है। वह यह कि—भगवान महावीरकी पूजा करनेकी इच्छासे राजगृही-समवशरणके रास्ते गमन करता हुआ एक मेंडक हाथीके पाँवके नीचे दब जानेसे मर कर देव हुआ।

इस कथा पर कुछ सवाल उठते हैं—

(१) अगर वह मेंडक सम्यग् दृष्टि (४ गु०) था तो उसका गर्भज और संज्ञी होना आवश्यक है (लब्धिसार गा० २)। परन्तु मेंडक गर्भज नहीं है, सम्मूर्च्छन है।

(२) अगर वह मेंडक मिथ्यादृष्टि (३ गु०) था तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि तीसरा गुणस्थान रहते मरण नहीं होता है।

(गो० जी० २३-२४)

(३) अगर वह मेंडक मिथ्यादृष्टि (१ गु०) था तो उसके समवशरणमें जाकर तमाशा देखनेकी इच्छा तो हो सकती है, परन्तु जिन पूजा करनेकी इच्छा नहीं हो सकती है।

सच बात तो यह है कि कथाएँ दो प्रकारकी होती हैं, एक ऐतिहासिक दूसरी कल्पित। किसी प्रबोध-प्रयोजन पोषणके लिये कथाएँ कल्पित भी की जाती हैं। कहा है —

"प्रथमानुयोग विषें जे मूल कथा हैं ते तो जैसी

हैं तैसी ही निरूपित हैं। अगर तिन विषें प्रसंग पाय व्याख्यान हो है, सो कोई तो जैसाका तैसा हो है, कोई ग्रन्थकर्ताका विचारके अनुसार होय, परन्तु प्रयोजन अन्यथा न हो है।"

"बहुरि प्रसंग रूप कथा भी ग्रंथकर्ता अपने विचार अनुसार कहे जैसे "धर्मपरीक्षा" विषें मूर्खनिकी कथा लिखी, सो एही कथा मनोवेग कही थी, ऐसा नियम नाहीं; परन्तु मूर्खपनाको ही पोषती कोई वार्ता कही, ऐसा अभिप्राय पोषे है। ऐसे ही अन्यत्र जानना।"

(मोक्षमार्ग प्र०, पं० टोडरमलजी)

अतएव कल्पित कथाओंके साथ साथ सिद्धांतों की संगति नहीं बैठ सकती है। सिद्धान्तोंकी संगति तो उन्हीं कथाओंके साथ बैठेगी जो ऐतिहासिक होंगी।

मेरा ऐसा ख्याल है कि दृष्टान्त प्रामाणिक चीज़ है क्योंकि वह प्रत्यक्ष हो चुका है। दृष्टांतों परसे तो सिद्धान्त बने हैं, जैसे उच्चारणोंपरसे व्याकरण बना। अथवा दृष्टांत (अंतमें दिखाई देने वाली चीज़) और सिद्धांत (अंतमें सिद्ध होने वाली चीज) एक ही चीज तो है।

मेंडककी कथा कल्पित जान पड़ती है। उसका यही उद्देश्य नज़र आता है कि जिनपूजाके फलसे तिर्यंच भी देव हो सकता है तो मनुष्यकी तो बात ही क्या?

और भी ऐसी कथाएँ हैं जैसे सुदृष्टि सुनारकी कथा। कथानक यों है कि—अपनी स्त्रीसे मैथुन करते समय सुदृष्टि सुनार को, उसके वक्र नामक शिष्यने जो कि सुदृष्टिकी स्त्री 'विमलामें लगा हुआ था—व्यभिचार करता था—, मार डाला। मर कर वह अपनी ही स्त्रीके गर्भमें आगया। जन्मा और बड़ा होने पर जातिस्मरण हो जानेसे उसने सब बात जानी, तब उसे वैराग्य हो आया। मुनि दीक्षा ली, और तपस्या करके मोक्ष चला गया।—अब देखिये, सिद्धान्तसे तो इसका मेल (संगति) नहीं बैठता है; क्योंकि सिद्धान्त तो यह है कि—एक तो सुनार दूसरा व्यभिचारज, दोनों तरहसे शूद्र होनेसे वह मोक्ष नहीं जा सकता। परन्तु प्रयोजन (उद्देश्यसे इसका मेल बराबर बैठता है। उद्देश्य यह दिखानेका था कि देखो, संसार कैसा विचित्र है कि पिता खुद ही अपना पुत्र भी हो सकता है और स्त्री का पति भी उसका पुत्र बन सकता है!

आशा है, इस मेंडक सम्बन्धी शंका पर कोई सज्जन जरूर प्रकाश डालेंगे।

* * *

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[ले०—प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती, एम.ए. आई. ई. एस.,]

[अनुवादक—पं० सुमेरचन्द दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री बी. ए., एलएल. बी., सिवनी]

[१०वीं किरण से आगे]

कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह ग्रन्थ आठवीं सदीका होना चाहिए,कारण उसके एक या दो पद्योंमें 'मुत्तरियर' शब्द पाया जाता है। उनके कथनका आधार यह है कि यह 'मुत्तरियर' शब्द पल्लवराज्यके भीतर रहने वाले एक छोटे नरेशको घोषित करता है। यह परिणाम केवल इस एक शब्दके साथ की अल्प शाब्दिक साक्षीके आधार पर है। इसके सिवाय और कोई साक्षी नहीं है, जिससे इस नरेशका उन जैन साधुओंसे सम्बन्ध स्थापित किया जाय, जो इन पद्योंके निर्माणके वास्तवमें जिम्मेदार थे। इसके सिवाय 'मुत्तरियर' शब्दका अर्थ 'मुक्ता-नरेश', जो पाँड्य नरेशोंको सूचित करता है, भी भली भांति किया जा सकता है। पुरातन इतिहासमें यह बात प्रसिद्ध है, कि पाँड्य देशमें मुक्ता-अन्वेषण एक प्रधान उद्योग था, और पांड्य-तटोंसे विदेशोंको मोती भेजे जाते थे। यह उचित तथा स्वाभाविक बात है कि जैन मुनिगण पांड्यवंशीय अपने संरक्षकका गुणानुवाद करें। एक दूसरी युक्ति और है, जिससे यह ग्रन्थ ईसाकी पिछली शताब्दियोंका बताया जाता है। विद्वानोंका अभिमत है कि इस ग्रन्थके अनेक पद्योंमें भर्तृहरि के संस्कृत ग्रंथकी प्रतिध्वनि पाई जाती है। भर्तृहरिका नीतिशतक लगभग ६५० ईसवीमें रचा गया था। अतः यह कल्पना कि जाती है, कि नालदियार सातवीं सदीके बादका होना चाहिए। यह तर्क भी त्याज्य है, कारण वे जैन विद्वान, जो संस्कृत तथा तामिल इन दोनों भागोंमें निपुण थे, सम्भवतः पुरातन संस्कृत सूक्तियोंसे सुपरिचित थे, जिन्हें भर्तृहरिने अपने ग्रंथमें शामिल किया है। यदि आप यह मानें कि नालदियारके लिए जिम्मेदार जैन मुनिगण कुंदकुंदाचार्यके नेतृत्व वाले द्राविड़ संघके सदस्य थे, तब भी इस रचनाको प्रथम शताब्दीके बादका सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रसंगमें यह उल्लेख करना उचित है कि तामिल भाषाकी प्रख्यात टीकाओंमें बहुत प्राचीन-कालसे नालदियारके पद्य उद्धृत हुए पाए जाते हैं। इन दो महान् ग्रन्थोंके सिवाय नीतिके अष्टादशग्रन्थोंमें सम्मिलित दूसरे ग्रंथ (यथा 'अरनेरिच्चारम्'—सद्गुण मार्गका सार, 'पलमोलि'-सूक्तियां, ईलाति आदि)मूलतः जैन आचार्योंकी कृतियाँ हैं। इनमेंसे हम संक्षेपमें कुछ पर विचार करेंगे।

१. अरनेरिच्चारम्—'सधर्म-मार्ग-सार'—के रचयिता तिरुमुनैप्पादियार नामक जैन विद्वान् हैं। यह अंतिम संगमकालमें हुए थे। इस महान् ग्रन्थ में ये जैनधर्मसे सम्बन्धित पंच सदाचारके सिद्धान्तोंका वर्णन करते हैं, यद्यपि ये सिद्धान्त दक्षिणके अन्य धर्मोंमें भी पाए जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको पंचव्रत कहते हैं, जो चरित्र-सम्बन्धी

पाँच नियम हैं, और जो गृहस्थ तथा मुनियोंके लिए आवश्यक हैं। ये अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा परिमित परिग्रह कहे जाते हैं । ये सदाचार-सम्बन्धी पंचव्रत कहे जाते हैं,और अरनेरिच्चारम् नामक ग्रन्थमें इनका वर्णन है ।

२. पलमोलि अथवा सूक्तिएँ—इसके रचयिता मुनरुनैयार-अरैयनार नामक जैन हैं। इसमें नालदियारके समान वेणवा वृत्तमें ४०० पद्य हैं। इसमें बहुमूल्य पुरातन सूक्तियाँ हैं,जो न केवल सदाचार के नियम ही बताती हैं बल्कि बहुत अंशमें लौकिक बुद्धित्तासे परिपूर्ण हैं। तामिलके नीतिविषयक अष्टादश ग्रन्थोंमें कुरल, नालदियारके बाद इसका तीसरा नंबर है।

३. इस अष्टादश ग्रंथ-समुदायमें सम्मिलित "तिनैमालैनूरैम्वतु" नामका एक और ग्रन्थ हैं जिसका रचयिता है कणिमेदैयार । यह जैन लेखक भी संगमके कवियोंमें अन्यतम हैं । यह ग्रन्थ शृंगार तथा युद्धके सिद्धान्तोंका वर्णन करता है तथा पश्चात्‌वर्ती महान् टीकाकारोंके द्वारा इस ग्रंथके अवतरण बखूबी लिए जाते रहे हैं। नच्चिनार्क्किनियार तथा अन्य ग्रन्थकारोंने इस ग्रन्थके अवतरण दिए हैं।

४.इस समुदायका एक ग्रन्थ 'नान्मणिक्कडिगे' अर्थात् रत्नचतुष्टय-प्रापक है । इसके लेखक जैन विद्वान विलम्बिनथर हैं। यह वेण्बा छन्दमें है, जो अन्य ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है।प्रत्येक पद्यमें रत्नतुल्य सदाचारके नियम चतुष्टयका वर्णन है और इसीसे इसका नाम नान्मणिक्कडिगे है ।

५.इसके बाद एलाति तथा दूसरे ग्रंथ आते हैं एलाति शब्द इलायची, कपूर, ईरीकारसू नामक सुगंधित काष्ट, चन्दन तथा मधुके सुगन्धपूर्ण संग्रहको घोषित करता है। ग्रन्थके इस नामकरणका कारण यह है कि इसके प्रत्येक पद्यमें ऐसे ही सुरभिपूर्ण पाँच विषयोंका वर्णन है । इस ग्रन्थका मूल जैन है । ग्रन्थकारका नाम कणिमेडैयार है जिनकी विद्वत्ता सबके द्वारा प्रशंसित है । यह संगम साहित्यके अष्टादश लघुग्रंथोंमें अन्यतम है। लेखकके सम्बन्धमें केवल इतना ही मालूम है,कि वह माक्कायनारका शिष्य तथा तामिलाशिरियरका पुत्र है,जो मदुरा संगमके सदस्य थे । साधारणतया वे ग्रंथ यद्यपि उन अष्टादशलघुग्रन्थोंमें शामिल किए जाते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि वे उसी शताब्दी के हैं । ये अनेक शताब्दियोंके होने चाहिएँ । हम कुछ दृढ़ताके साथ इतना ही कह सकते हैं, कि ये दक्षिण भारतमें हिन्दूधर्मके पुनरुद्धार कालके पूर्ववर्ती हैं । अतः इनका समय सातवीं सदीके पूर्वका होना चाहिए।

अब हम काव्य-साहित्यका वर्णन करेंगे। महाकाव्य और लघुकाव्यके भेदसे काव्य-साहित्य दो प्रकारका है। महाकाव्य संख्यामें पाँच हैं—चिंतामणि, शिलप्पडिकारम्‌मणिमेखलै, वलैयापति और कुंडलकेशि। इन पांच काव्योंमें चिंतामणि,सिलप्पडिकारम्, और वलैतापति तो जैन लेखकोंकी कृति हैं और शेष दो बौद्ध विद्वानोंकी कृति हैं। इन पांच मेंसे केवल तीन ही अब उपलब्ध होते हैं; कारण वलैयापति तथा कुंडलकेशि तो इस जगतसे लुप्त हो गए हैं। टीकाकारों द्वारा इधर-उधर उद्धृत कतिपय पद्योंके 'सिवाय इन ग्रंथोंके सम्बन्धमें कुछ भी विदित नहीं है। प्रकीर्णक रूपमें प्राप्त कतिपय पद्योंसे यह स्पष्ट है कि 'वलैयापति' जैन ग्रन्थकार

के द्वारा रचित था। कथाका क्या ढाँचा था, लेखक कौन था और वह कब विद्यमान था, ये सब बातें केवल कल्पनाकी विषय रह गई हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थ कुंडलकेशिके लेखक अथवा उसके समय के सम्बन्धमें भी कुछ ज्ञात नहीं है। नीलकेशि ग्रंथमें उद्धृत पद्योंसे यह स्पष्ट होता है कि कुण्डलकेशि एक दार्शनिक ग्रंथ था, जिसमें वैदिक तथा जैन दर्शन जैसे अन्य दर्शनोंका खण्डन करके बौद्ध दर्शनको प्रतिष्ठित करनेकी कोशिश की गई है। दुर्भाग्यसे इन दोनों महाकाव्योंकी उपलब्धिकी कोई आशा नहीं है। प्रकाण्ड तामिल विद्वान डा. वी. स्वामिनाथ अय्यरके प्रशंसनीय परिश्रमसे केवल तीन अन्य ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध हैं। यद्यपि काव्योंकी गणनामें चिंतामणिका गौरवपूर्ण स्थान है, क्योंकि उस ग्रंथराजकी सर्वमान्य साहित्यिक कीर्ति है, परन्तु इससे यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यह गणना ऐतिहासिक क्रम पर अवलम्बित है। प्रायःवलैयापति एवं कुंडलकेशि नामक लुप्त ग्रन्थ दूसरोंकी अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टिसे पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं, किन्तु इन ग्रंथोंके विषयमें कुछ भी विदित नहीं है, अतः हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते हैं। अवशिष्ट तीन ग्रंथोंमें शिलप्पडिकारम् तथा मणिमेकलै परम्पराके द्वारा समकालीन बताए जाते हैं, किन्तु चिंतामणि प्रायः पश्चात्तवर्ती है। मणिमेकलैके बौद्ध ग्रंथ होनेके कारण हम अपनी आलोचनामें उसे स्थान नहीं दे सकते, यद्यपि कथाका सम्बन्ध शिलप्पडिकारम से है जो कि स्पष्टतया जैन ग्रन्थ है।

शिलप्पडिकारम्—'नूपुरका महाकाव्य' अत्यन्त महत्वपूर्ण तामिल ग्रंथ है, कारण वह तामिल साहित्यके समय-निर्णयमें सीमालिंगका काम देनेवाला समझा जाता है। उसके लेखक चेरके युवराज हैं, जो 'ल्लंगोवडिगल' नामके जैन मुनि हो गए थे। यह महान् ग्रंथ साहित्यिक रिवाजोंके विषयमें प्रमाणभूत गिना जाता है और बादके टीकाकारोंके द्वारा इसी रूपमें उद्धृत किया जाता है। इसका सम्बन्ध नगरपुहार, कावेरिपूमपट्टणमके, जो चोल राज्यकी राजधानी था, महान् वणिक परिवारसे बताया जाता है। कण्णकी नामकी नायिका इसी वैश्य वंशकी थी और वह अपने शील तथा पतिभक्तिके लिए प्रख्यात थी। चूंकि इस कथामें पांड्य राज्यकी राजधानी मदुरामें नूपुर (anklet) अथवा शिलम्बु बेचनेका प्रसंग है, इसलिए यह दुःखान्त रचना नूपुर अथवा शिलम्बुका महाकाव्य कही जाती है। चूंकि इस कथामें तीन महाराज्यों का सम्बन्ध है अतः लेखक, जो चेर-युवराज्य है, पुहार, मदुरा तथा वनजी नामकी तीन बड़ी राजधानियोंका विस्तारके साथ वर्णन करता है, जिनमेंसे वनजी चेरराज्यकी राजधानी थी।

इस ग्रंथके रचियिता ल्लंगोबडिगल् चेरलादन नामक चेर नरेशके लघु पुत्र थे, जिसकी राजधानी वनजी थी। ल्लंगोवाडिगल् चेरलादनके पश्चात होने वाले नरेश शेनगुटटुवनका अनुज था; इसीसे उसका नाम ल्लंगोवाडिगल अर्थात् छोटा युवराज था। जब वह मुनि हुए तब उन्हें ल्लंगोवाडिगल कहते थे, 'अडिगल' शब्द मुनिका उल्लेख करने वाला एक सम्मानपूर्ण शब्द है। एक दिन जब यह साधु युवराज वनजी नामकी राजधानीमें स्थित जिनमन्दिरमें थे, तब कुछ पहाड़ी लोग उनके पास गए और उनने उस आश्चर्यकारी दृश्यका वर्णन

किया, जिसे उनने देखा था और जो कएणकी नामकी नायिकासे सम्बन्धित था। उनने पर्वत पर एक स्त्रीको, जिसका एक स्तन नष्ट हो गया था, किस प्रकार देखा; किस तरह उसके समक्ष इन्द्र आया और किस भांति कोवलन नामक उसका पति देवके रूपमें उससे मिला और अन्तमें किस प्रकार इन्द्र उन दोनोंको विमानमें बैठाल कर ले गया; ये सब बातें चेरके युवराजके समक्ष उसके मित्र और मणिमेकलैके प्रख्यात लेखक कुलवाणिगन् शाट्टन नामक कविकी मौजूदगीमें कही गई। इस मित्रने नायक तथा नायिकाको पूर्ण कथा कही और वह राजर्षिके द्वारा बड़ी रुचिसे सुनी गई।

शाट्टनके द्वारा कथित इस कथामें तीन मुख्य तथा मूल्यवान सत्य हैं जिनमें राजर्षिने बहुत दिलचस्पी ली। पहला, अगर एक नरेश सत्यके मार्गसे तनिक भी विचलित होता है तो वह अपनी अनीतिमत्ताके प्रमाणस्वरूप अपने तथा अपने राज्यके ऊपर संकट लाएगा; दूसरा, शीलके मार्ग पर चलने वाली महिला न केवल मनुष्योंके द्वारा प्रशंसित एवं पूजित होती है किन्तु देवों तथा मुनियोंके द्वारा भी; और तीसरे कर्मोंकी गति इस प्रकारकी है कि उसका फल अवश्यंभावी है, जिससे कोई भी नहीं बच सकता और व्यक्तिके पूर्व कर्मोंका फल आगामीकालमें अवश्य भोगना पड़ेगा। इन तीन अविनाशी सत्योंका उदाहरण देनेके लिये राजर्षिने मनुष्यजातिके कल्याणके लिये इस कथाकी रचना करनेका कार्य किया। इस शिलप्पदिकारम् अथवा नूपुर (चरणभूषण) के महाकाव्यमें पहला दृश्य चोलकी राजधानी पुहारमें है। यह कावेरी नदीके मुखपर स्थित मुख्य बंदरगाह था और वह चोलनरेश करिकालकी राजधानी था। व्यापारका मुख्य केन्द्र होनेके कारण राजधानीमें बहुतसे विशाल व्यापारिक भवन थे। इनमें मासत्तुवन नामका एक प्रख्यात् व्यापार था जो व्यापारियोंके शिरोमणियोंके उज्ज्वल परिवारका था। उसका पुत्र कोवलन था, जो कि इस कथाका नायक है। वह उसी नगरके मा-नायकन नामके दूसरे महान् व्यापारीकी कन्या कएणकीके साथ विवाहा गया था। कोवलन और उसकी पत्नी कएणकी एक बड़े पैमाने पर निर्मित स्वतंत्र भवनमें अपनी सामाजिक प्रतिष्ठाके अनुसार कुछ काल तक बड़े ठाठ-बाट तथा आनन्दके साथ रहते थे, गृहस्थोंके नियम तथा आचारके अनुसार उनकी प्रवृत्ति थी और उनका आनन्द पात्रभूत गृहस्थों तथा मुनियोंका अत्यधिक आदर-सत्कार करनेमें था।

जब कि वे अपने जीवनको इस प्रकार सुखसे बिता रहे थे, तब कोवलनको एक अत्यन्त सुन्दरी तथा प्रवीण माधवी नामकी नर्तकी मिली, वह उस पर आसक्त होगया और उसके अनुकूल बर्तने लगा, और इसीलिये वह अपना अधिकांश समय माधवीके साथ व्यतीत करता था, जिससे उसकी धर्मपत्नी कएणकीको महान् दुःख होता था। इस विलासता पूर्ण जीवनमें उसने प्रायः सब संपत्ति स्वाहा कर दी, किन्तु कएणकाने अपना दुःख कभी भी प्रकट नहीं किया और वह उसके प्रति उसी प्रकार भक्त बनी रही जिस प्रकार कि वह अपने वैवाहिक जीवनके प्रारंभमें थी। सदा की भाँति इन्द्रोत्सवका त्यौहार अथवा प्रसंग आया। कोवलन अपनी प्रेयसीके साथ उत्सवमें

सम्मिलित होनेके लिये समुद्र तट पर गया। जबकि वे एक कौनेमें बैठे थे, कोवलनने माधवीके हाथमे वीणा ले ली और वह प्रेमकी कुछ मधुर गीतिकाएँ बजाने लगा। माधवीको तनिक शंका हुई कि उसके प्रति कोवलनका प्रेम कम हो रहा है। किन्तु जब उसके हाथसे माधवीने वीणा लेकर अपना गीत आरंभ किया, तो कोवलनको इस बातका संदेह होने लगा कि माधवीका गुप्त रूपमे किसी अन्य व्यक्तिके साथ सम्बन्ध है। इस पारस्परिक संदेहसे उनमें जुदाई हो गई, और कोवलन एक सम्माननीय गृहस्थके रूपमें फिरसे जीवन आरम्भ करनेके पवित्र संकल्पको लेकर पूर्ण गरीबीकी अवस्थामें घर लौटा। उसकी शीलवती पत्नीने, उसकी अतीत उच्छृंखलवृत्ति पर क्षोभ व्यक्त करनेके स्थानमें उसे स्नेहके साथ धीरज बँधाया, जो शीलवती महिलाके अनुरूप था, और उसके निजके व्यवसायको पुनः आरंभ करके जीवन प्रारंभ करने सम्बन्धी निश्चय को प्रोत्साहित किया। उसके पास तो दमड़ी भी नहीं बची थी कारण जब वह अपनी प्रेयसी माधवी में आसक्त था, तब वह अपना सर्वस्व स्वाहा कर चुका था। किन्तु उसकी पत्नीके पास दो चार भूषण विद्यमान थे। वह स्त्री उनको देनेको तैयार थी, यदि वह उनको बेचकर प्राप्तकर द्रव्यसे अपना व्यवसाय आरम्भ करनेमें पूंजी लगानेकी सावधानी करे। किन्तु वह अपनी राजधानीमें अब बिल्कुल भी नहीं ठहरना चाहता था। इससे उसने इन चरण भूषणोंको पांड्यन राजधानी मदुरामें जाकर बेचने का निर्णय किया। किसीको भी परिज्ञान हुए बिना वह उसी रातको अपनी पत्नीके साथ चोल राजधानीको छोड़कर मदुराके लिये रवाना हो गया। मार्गमें वह कावेरीके उत्तरतटकी ओर स्थित जैन साधुओंके एक आश्रममें पहुँचा। उस आश्रममें उनको कौंडा नामकी साध्वी मिली, जो उन दोनोंके साथ चलनेको इसलिए बिल्कुल राजी थी, कि उसे पांड्यन राजधानी मदुरामें स्थित महान् जैन-आचार्योंसे मिलनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। ये तीनों मदुराकी ओर रवाना होगये। कावरी नदीको पार करनके उपरांत जब कौलवन् और उसकी स्त्री एक तलाबके तटपर बैठे, तब अपनी दुष्टा प्रेयसीके साथ वहां भ्रमण करने वाले एक दुर्जनने कोवलन और उसकी पत्नीका बहुत तिरस्कार किया। इससे उनकी साध्वी मित्र कौंडी उत्तेजित हो उठी और उसने इनको शृगाल बननेका शाप दिया। परन्तु कोवलन एवं कण्णकीकी हार्दिक प्रार्थनाओं पर उस शापमें यह परिवर्तन किया गया कि वे अपने पूर्वरूपको एक वर्षमें प्राप्त कर लेंगे।

इस लम्बी यात्राके कष्टोंको भोगते हुए वे मदुरा के समीप पहुँचे, जो पाँड्यन राजधानी थी। अपनी पत्नी कण्णकीको कौण्डीके पास और उसकी जिम्मेदारी पर सौंपकर कौवलनने नगरमें प्रवेश किया, ताकि वह उह उचित स्थानका निश्चय करे, जहाँ पर व्यवसाय आरम्भ करेगा। जब कौवलन अपने मित्र मादलनके साथ नगरमें अपना समय व्यतीत कर रहा था, तब कौण्डी कण्णकीको माधरी नामकी साधुस्वभाव वाली वहाँकी भेड़ चराने वाली के यहाँ छोड़ना चाहती थी। जब कौवलन नगरसे वापिस आया, तब वह और उसकी स्त्री अयरवाड़ी लाए गए और वे उस गड़रियेकी स्त्रीके यहां ठहराए गए। उस गड़रिया स्त्रीकी लड़की

कण्णकी की सेवा के लिये नियुक्त हुई जो कि अपने पति-सहित उस आयरपाडीमें प्रतिष्ठित मेहमान थी। कष्टों तथा क्षतियोंके कारण दुःखी होता हुआ कोवलन अपनी स्त्रीके पाससे बिदा होकर चरण भूषणोंमेंसे एकको बेचनेके लिए नगरी लौटा। जब वह प्रधान बाजारकी सड़क पर पहुँचा, तब उसे एक स्वर्णकार मिला। उसने अपने आपको राजाके द्वारा संरक्षित स्वर्णकार बतलाया और उससे कहा कि मेरे पास रानीके पहनने योग्य एक चरण भूषण है। उसने उससे उसका मूल्य जाँचनेको कहा। वह सुनार उसका मूल्य जाँचना चाहता था, अतः स्वामीने उस भूषणको उसे दे दिया। उस दुष्ट स्वर्णकारने अपने मनमें कोवलनको ठगनेकी बात सोची और उससे पासके घरमें ठहरनेको कहा और यह बचन दिया कि मैं राजासे इस विषयमें सौदा करूँगा, कारण वह चरण-भूषण इतना मूल्यवान है कि केवल महारानी ही उसका मूल्य दे सकेगी। इस प्रकार बेचारे कोवलिनको अकेला छोड़ कर वह उस चरण-भूषणको लेकर राजाके पास पहुँचा और उसने बात बदल कर यह कहा कि कोवलन एक चोर है, उसके पास रानीके पासका एक चरण-भूषण है, जो कुछ दिन पूर्व राजमहलसे चोरी गया था। कोई विशेष जांच किए बिना ही राजाने आज्ञा देदी कि चोरको फांसी देदी जाय तथा तत्काल ही चरण-भूषण ले लिया जाय। दुष्ट स्वर्णकार राजाके कर्मचारियोंके साथ लौटा, जिन्होंने मूर्ख राजाकी आज्ञाका अक्षरशः पालन किया, और इस तरह विदेशमें अपना जीवन आरम्भ करनेके उद्योगमें कोवलनको अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा। इस अर्सेमें गड़रियेकी स्त्रीके घरमें स्थित कण्णकीको अपने ऊपर कहान संकटके सूचक अनेक अपशकुन दिखाई पड़े। जब गड़रियन माधरी वैगई नदीमें स्नान करने गई तब नगरसे लौट कर आने वाली एक गड़रियनसे कोवलनका हाल विदित हुआ, जो रानीके चरण भूषण चुराने के अपराधमें राजाज्ञाके अनुसार मार डाला गया था। जब यह समाचार कण्णकीने सुना तब वह क्रुद्ध हुई अपने हाथमें दूसरा चरण भूषण लेकर नगरमें घुसी ताकि वह राजाके समक्ष अपने पतिके निर्दोषपनेको सिद्ध करे। राजमहलमें पहुंच कर कण्णकीने द्वारपालके द्वारा यह समाचार पहुँचवाया कि मैं राजासे मिलना चाहती हूँ ताकि अपने पतिकी निर्दोषताको सिद्ध कर सकूँ, जो उचित जांचके बिना ही फाँसी पर टाँग दिया गया है। उसने राजाको बतलाया कि मेरे पतिके पाससे गृहीत चोरीके समझे गये मेरे चरण भूषणके भीतर जवाहरात थे, किन्तु महारानीके चरण-भूषणमें भीतरकी ओर मोती थे। जब कण्णकीके चरण भूषणको तोड़ कर राजाको यह बात दिखाई गई, तब राजाने वैश्योंके एक कुलीन वंशके निर्दोष व्यक्तिका कठोरता पूर्वक प्राणहरण करनेकी भयंकर भूलको पहचाना। वह चिल्ला उठाकि दुष्ट सुनारने मुझसे मूर्खता पूर्ण यह भयंकर भूल कराई है और वह राज्यासनमे गिरकर मूर्छित हो गया एवं तत्काल ही प्राण-हीन हो गया। अपने पतिकी निर्दोषताको सिद्ध करनेके अनन्तर अत्यन्त क्षोभ तथा क्रोधमें कण्णकीने सम्पूर्ण मदुरा नगरको शाप दिया कि वह अग्निसे भस्म हो जाय और उसने अपना बाम स्तन काट कर अपने शापके साथ नगरकी ओर फेंक दिया शापने अपना काम किया

और वह नगर जल कर भस्म हो गया। मदुराकी देवीसे यह बात जान कर कि यह सब उसके पूर्वोपार्जित कर्मोंका परिणाम है तथा यह सान्त्वना-प्रद बात जान कर कि वह एक पक्षमें देवरूपमें अपने पतिसे मिलेगी, कण्णकी मदुरा छोड़ कर पश्चिमकी ओर मलेन्दुकी ओर चली गई। तिरुच्चेन्गुणरम नामक पर्वत पर चढ़कर वह वेनगै वृक्षकी छायामें चौदह दिन प्रतीक्षा करती रही तब एक दिन उसके पति कोवलनके देवरूपमें दर्शन हुए, जो उसे अपने विमानमें स्वर्ग ले गया, जहां वह स्वयं देवोंके द्वारा पूजित था। इस प्रकार मदुरेम्काँडम् नामका दूसरा अध्याय पूर्ण होता है।

इसके अतन्तर तीसरे भागमें, जो वंजिक काण्ड कहलाता है, चेरकी राजधानी वंजिका वर्णन है। जिन पहाड़ी लोगोंने कण्णकीको उसके पति द्वारा दिव्य विमानमें बिठा कर ले जाए जानेके महान दृश्यको देखा, उनने अपनी झोपड़ियोंमें कुरवेकूट्टु नामक उमंग पूर्ण नर्तनके रूपमें इस घटनाको मनाया। इसके अनन्तर इन व्याधोंने अपने राजा सेनगुट्टुवनको यह आश्चर्य-जनक घटना बतलाना चाहा और इसके लिये हर एकने राजाके लिये उपहार लेकर राजधानीकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ वे चेर नरेशसे मिले, जो कि उस समय अपनी महारानी और छोटे भाईके साथ चतुरंग सेनाके मध्यमें स्थित था। जब राजाने यह कथा सुनी कि किस प्रकार कोवलन मदुरामें मारा गया, किस प्रकार कण्णकीके शापसे नगर भस्म हो गया और किस प्रकार पांड्यनरेशका प्राणान्त हुआ, तब वह कण्णकीकी महत्ता और शीलसे अत्यन्त प्रभावित हुआ। अपनी महारानीकी आकांक्षाके अनुसार उसने इस शील देवीके लिए एक मन्दिरका निर्माण कराना चाहा। इस उद्देश्यसे वह अपने मन्त्रियों एवं सेनाओंके साथ हिमालय की ओर गया ताकि वहाँसे एक चट्टान लाकर कण्णकीकी मूर्ति बनवाए और उसे उसके नामसे बनवाए हुए मन्दिमें प्रतिष्ठित करें। मार्गमें अनेक आर्य नरेशोंने उसके साथ प्रति द्वंदिता की, जिनको चेर-नरेशने हराया और वे चेर राजधानीमें कैदीके रूपमें लाये गये। चेर राजधानीमें उसने कण्णकीके नाम पर एक मन्दिर बनवाया और प्रतिष्ठा महोत्सव कराया, जिसके अनुसार शीलकी देवी कण्णकीकी मूर्ति पूजाके लिये मन्दिरमें स्थापित की गई। इस बीचमें कोवलन एवं कण्णकीके माता पिता अपने बच्चोंके भाग्यका हाल सुककर सब सम्पत्ति छोड़कर साधु बन गए। जब चेर नरेश सेनगुट्टुवनने शील देवताकी पूजा-निमित्त मन्दिर बनवाया, तब आर्यावर्तके अनेक नरेशों; मालवाके नरेश और लंकाधीश गजवाहूने, जो सब उस समय चेर-राजधानीमें थे, अपनी २ राजधानीमें इसी प्रकारके मन्दिर कण्णकीके लिये बनवाने का निश्चय किया और यह चाहा इसी प्रकारसे उसकी पूजाकी प्रवृत्ति की जाय, ताकि वे भी शीलके अधिदेवताका आशीर्वाद प्राप्त कर सकें। इस प्रकार कण्णकीकी पूजा आरम्भ हुई जिससे पूजकोंकी सर्वसम्पत्ति एवं समृद्धिकी प्राप्ति हुई। इस प्रकार शिलप्पडिकारम्की कथा पूर्ण होती है। इसके तीन महा खंड हैं और कुल अध्याय तीस हैं। इस ग्रन्थ पर अदियारक्कुनल्लार-रचित एक बड़े महत्वकी टीका विद्यमान है। इस टीकाकारके सम्बन्धी कुछ भी ज्ञात नहीं है। चूंकि नच्चिनारक्किनियर नामक

पश्चात् कालीन दूसरा टीकाकार इस टीकाकारका उल्लेख करता है इससे हम इतना ही कह सकते हैं कि वह नच्चिनारक्किनियरसे पूर्ववर्ती होना चाहिये। इस ग्रन्थकी महत्व पूर्ण टीकासे यह स्पष्ट है कि वह टीकाकार एक महान विद्वान हुआ होगा। वह गायन, नृत्यकला, तथा नाचशास्त्रके सिद्धान्तोंमें अत्यन्त निपुण था, यह बात इन विषयोंको स्पष्ट करने वाली टीकासे स्पष्ट विदित होती है इस नूपुर (चरण भूषण) वाले महाकाव्यमें दक्षिण भारतके इतिहासमें दिलचस्पी रखने वाले विद्वानोंके लिये बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। कनकास भाई पिल्लेके समयसे जिन्होंने १८०० वर्ष पूर्वके तामिलजन" नामका ग्रंथ लिखा अब तक यही ग्रन्थ तामिल देशके अनुसंधानक छात्रोंके परिज्ञान एवं पथप्रदर्शनके लिए कारण रहा है। सीलौनके नरेश गजवाहु बंजी राजधानीमें राजकीय अतिथियोंमेंसे एक थे, यह बात ग्रन्थके कालनिर्णय के लिए मुख्य बताई गई है। बौद्ध ग्रन्थ महावंशके अनुसार ये गजबाहु ईसाकी दूसरी शताब्दीके कहे जाते हैं। इस बातके आधार पर आलोचकोंका यह अभिमत है कि चेर-नरेश सेनगुट्टवन और उनके भाई ल्लंगोबडिगल ईसाके लग भग १५० वर्ष पश्चात् हुए होंगे, अतः यह ग्रन्थ उसी कालका समझा जाना चाहिये। इस बात पर सभी एक मत नहीं है, किंतु जो इस विषयमें भिन्न मत हैं, वे महावंशमें वर्णित गजवाहु द्वितीयके अनेक शताब्दी पीछेके कालमें इसे खेंचते हैं। मिस्टर लोगन (Logan) अपनी मलावार डिस्ट्रिक्ट मेनुअलमें अनेक महत्वकी बातें बताते हैं जिनसे कि हिन्दू धर्मके प्रवेशसे पहले मलावारमें जैनियोंका प्रभाव व्यक्त होता है चूंकि इस समय काल निर्णयकी बातमें हमारी साक्षात् रुचि नहीं है अतः हम इस बातको इतिहासके विद्वानोंके लिए छोड़ते हैं। हमारी रायमें इस ग्रन्थका द्वितीय शताब्दी वाले गजवाहुसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी बात सर्वथा असम्भव नहीं है। किन्तु हम एक महत्वपूर्ण बात पर जोर देना चाहते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थमें हम अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तोंका स्पष्टीकिरण एवं उस पर विशेष जोरसे वर्णन पाते हैं तथा कहीं २ इस सिद्धान्तके अनुसार मन्दिर पूजाका भी उल्लेख पाया जाता है। इस समयके लगभग सम्पूर्ण तामिल देशमें पुष्पोंसे पूजा प्रचलित थी। इसे "पुष्पकी" अर्थात् पुष्पोंसे बलि कहते हैं। 'बलि' शब्द तो यज्ञोंमें होने वाले बलिदानको बताता है और पुष्प बलिका अर्थ टीकाकार पुष्पोंसे ईश्वरकी पूजा करना बताते हैं।

* * *

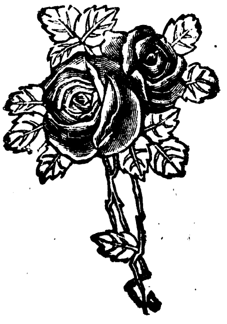

प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी 'समीक्षा'

[सम्पादकीय]

१

अब मैं प्रो० साहबकी उस समीक्षाकी परीक्षा करता हूँ जो उन्होंने उक्त 'सम्पादकीय-विचारणा' पर लिखी है और उसके द्वारा यह बतला देना चाहता हूँ कि वह कहाँ तक निःसार है:—

(सम्बन्ध वाक्य)

प्रो० साहबने अपनी मान्यता एवं धारणाको सत्य सिद्ध करने और उसे दूसरे विद्वानोंके गले उतारनेके लिये अपने पूर्व लेख (अनेकान्त वर्ष ३, किरण ४) में जिन युक्तियों (मुद्दों) का आश्रय लिया था उन्हें आपने चार भागोंमें बाँटा था। अर्थात्—

(१) प्रथम भागके चार उपभागोंमें कुछ दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रपाठोंका उल्लेख करके यह नतीजा निकाला था कि—"इत्यादिरूपमें राजवार्तिकमें तत्त्वार्थ-सूत्रोंके पाठभेदका अनेक स्थलों पर उल्लेख किया गया है। इससे यह बात स्पष्ट है कि उनके सामने कोई दूसरा पाठ अवश्य था, जिसे अकलंकने स्वीकार नहीं किया।"

(२) दूसरे भागमें स्वयं ही यह शंका उठाकर कि "सूत्रपाठमें भेद होनेका जो अकलंकने उल्लेख किया है उससे यही सिद्ध होता है कि उनके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ था, जिसे दिगम्बर लोग न मानते थे लेकिन इससे यह नहीं कहा जासकता कि वह सूत्रपाठ तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका ही था। संभव है वह अन्य कोई दूसरा ही पाठ रहा हो।" और साथ ही यह बतलाकर कि अकलंकके सामने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि मौजूद थी तथा उन्होंने सर्वार्थसिद्धिको सामने रख कर ही राजवार्तिकको लिखा है," शब्दसादृश्यको लिये हुए कुछ तुलनात्मक उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिये दिये थे कि 'राजवार्तिककारने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यका भी काफी उपयोग किया है। और उनके द्वारा अपनी इस दृष्टि एवं धारणाको व्यक्त किया था कि जो बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं अथवा संक्षेपसे पाई जाती हैं और भाष्यमें हैं अथवा कुछ विस्तारसे उपलब्ध होती हैं, वे सब राजवार्तिकमें प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यसे ही ली गई हैं।

(३) तीसरे भागमें "इतना ही नहीं" इन शब्दोंके साथ एक कदम आगे बढ़कर यह भी प्रतिपादन किया था कि "राजवार्तिककारने तत्वार्थभाष्यकी पंक्तियाँ उठा कर उनकी वार्तिक बनाकर उन पर विवेचन किया है। उदाहरणके लिये '**अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च**' यह भाष्यकी पंक्ति है (५-१); इसे **अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**' वार्तिक बनाकर इस पर अकलंकका विवेचन है।" साथ ही, यह सूचना भी की थी कि इसी तरह अकलंकदेवने भाष्य में उल्लिखित काल, परमाणु आदिकी मान्यताओं पर भी यथोचित विचार किया है। और उनसे अपने कथन की संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। अवश्य ही कहीं विरोध भी किया है।" और फिर (तदनन्तर ही) यह

नतीजा निकाला था। कि—"इससे ऊपरकी (नं० २ में वर्णित) शंकाका निरसन हो जाता है, और. इससे मालूम होता है कि अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्र पाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्वार्थभाष्य मौजूद था, जिसका उपयोग उन्होंने वार्तिक अथवा वार्तिकके विवेचनरूपमें यथास्थान किया है।'

(४) चौथे भागमें कुछ उद्धरणोंको तीन उपभागों (क, ख, ग) में इस प्रतिज्ञाके साथ दिया था कि, "उनमें अकलंकदेवने भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, इतना ही नहीं उसके प्रति बहुमान का भी प्रदर्शन किया है।" उनमेंसे पहला उद्धरण है—"उक्तं हि-**अर्हत्प्रवचने** 'द्रव्याश्रया निर्गुणागुणा इति;" दूसरा उद्धरण है—"कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्स्यादेतत कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं अतोस्योपसंख्यानं कर्तव्यं इति ? तन्न, किं कारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्।" और तीसरा उद्धरण है राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाका, जो ग्रन्थके अन्तमें 'उक्तंच'रूपसे दी हुई ३२ कारिकाओंके अनन्तर ग्रन्थकी समाप्तिको सूचित करने वाली है। यद्यपि वह मुद्रित प्रतिमें नहीं पाई जाती परन्तु पूना आदिकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें उपलब्ध है और वह इस प्रकार है—

"इति तत्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।
यत्र संनिहितस्तर्कः न्यायागमविनिर्णयः॥"

इस तरह पिछले दो उद्धरणोंमें प्रयुक्त हुए **'भाष्ये'** और **'भाष्यं'**पदोंका वाच्य ही उक्त श्वेताम्बरीय तत्वार्थाधिगमभाष्य सुझाया था और पहले उद्धरणमें प्रयुक्त हुए **'अर्हत्प्रवचने'** पदके विषयमें स्पष्ट लिखा था कि "यहाँ अर्हत्प्रवचनसे तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है।" साथ ही, यह भी बतलाया था कि श्वेताम्बर विद्वान् सिद्धसेनगणि भी इस (भाष्य) का 'अर्हत्प्रवचन' नामसे उल्लेख करते हैं।" और प्रमाणमें सिद्धसेनकी तत्वार्थवृत्तिका यह वाक्य उद्धृत किया था—"**इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमें उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकःसप्तमोऽध्यायः।**"

और अन्तमें उक्त कारिकाका यह अर्थ देकर कि "उत्तम पुरुषोंने तत्वार्थसूत्रका भाष्य लिखा है, उसमें तर्क संनिहित है और न्याय आगमका निर्णय है" यह नतीजा निकाला था कि "अकलंकदेव तो तत्वार्थाधिगम भाष्यसे अच्छी तरह परिचित थे, और वे तत्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्ताको एक मानते थे।"

प्रो० साहबके इस युक्ति-जालसे वह बात सिद्ध होती है या कि नहीं जिसे आप सिद्ध करके दूसरोंके गले उतारना चाहते है, इतनी बातका विचार करनेके लिये ही उक्त 'सम्पादकीय-विचारणा' लिखी गई थी; जैसाकि उसके शुरूके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे भी प्रकट है—

"यह सब बात जिस आधार पर कही गई है अथवा जिन मुद्दों आदि (उल्लेखों)के बल पर सुझानेकी चेष्टाकी गई है उन परसे ठीक—बिना किसी विशेष बाधाके—फलित होती है या कि नहीं, यही मेरी इस विचारणाका मुख्य विषय है।"

और इसलिये 'विचारणा' में, प्रो० साहबकी उक्तियोंकी जाँच करके उन्हें सदोष एवं बाधित सिद्ध करते हुए इतना ही बतलाया गया था कि उनके आधार पर प्रो० साहब जो नतीजा निकालना चाहते हैं वह नहीं निकाला जा सकता। इसके अतिरिक्त 'विचा-

रणा' में अपनी ओरसे कोई खास दावा उपस्थित नहीं किया गया --अपनी तरफसे किसी नये दावेको पेश करके साबित करना उसका लक्ष्य ही नहीं रहा है । ऐसी हालतमें विचारणाकी समीक्षा लिखते हुए प्रो० साहबको उचित तो यह था कि वे उनमें उन दोषोंका भले प्रकार परिमार्जन करते जो उनकी युक्तियों पर लगाये गये हैं--अर्थात् यह सिद्ध करके बतलाते कि वे दोष नहीं दोषाभाष हैं, और इसलिये उनकी युक्तियाँ अपने साध्यकी सिद्धि करनेके लिये निर्बल और असमर्थ नहीं किन्तु सबल और समर्थ हैं । परन्तु ऐसा न करके, प्रो० साहबने 'विचारणा' की कुछ बातोंको ही अन्यथा रूपमें पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया है और उसके द्वारा अपनी समीक्षाका कुछ रंग जमाना चाहा है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है—

"आगे चलकर तो मुख्तार साहबने एक विचित्र कल्पना कर डाली है । आपका तर्क है, क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है, अतएव राजवार्तिकमें **"उक्तं हि अर्हत्प्रवचने"** आदि पाठ भी अशुद्ध हैं; तथा 'अर्हत्प्रवचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रचनहृदय' होना चाहिये ।"

इस वाक्यमें यह प्रकट किया गया है कि मैंने यह दावा किया है कि "उक्तंहि **'अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः'** यह पाठ अशुद्ध है तथा 'अर्हत्प्रचन' के स्थान पर 'अर्हत्प्रचन हृदय' होना चाहिये; और अपने इस दावेको सिद्ध करनेके लिये सिर्फ यह युक्ति दी है कि "क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है ।" परन्तु मैंने अपनी 'विचारणामें', जिसे पाठक देख सकते हैं, कहीं भी उक्त रूपका दावा नहीं किया और न उक्त तर्क ही उपस्थित किया है । प्रो० साहबने अपनी युक्तियोंके चौथे भागमें सबसे पहले **"उक्तं हि अर्हत्प्रचने"** इत्यादि वाक्यको उद्धृत करके जो यह बतलाया था कि "यहाँ 'अर्हत्प्रवचन' से 'तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय मालूम होता है," और इसकी पुष्टिमें सिद्धसेनगणिके एक वाक्यको उद्धृत किया था उस सब पर विचार करते हुए मैंने जो अपनी 'विचारणा' प्रस्तुत की थी वह सब इस प्रकार है--

" **'उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा इति'** यह मुद्रित राजवार्तिकका पाठ जरूर है; परन्तु इसमें उल्लिखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्त्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है ऐसा लेखक महोदयने जो घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है यह कुछ समझमें नहीं आता । इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह तत्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्याय का ४० वाँ सूत्र है, और इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन'का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूल तत्वार्थाधिगमसूत्रका ही जान पड़ता है—तत्त्वार्थभाष्यका नहीं । सिद्धसेनगणिका जो वाक्य प्रमाणमें उद्धृत किया गया है उसमें भी 'अर्हत्प्रचन' यह विशेषण प्रायः तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है--मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं । इसके सिवाय, राजवार्तिकमें उक्त वाक्यसे पहले यह वाक्य दिया हुआ है—**"अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् ।"** और तत्सम्बन्धी वार्तिक भी इस रूपमें दिया है—**"गुणाभावादयुक्तिरिति चेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात् ।"** इससे उल्लेखित ग्रन्थका नाम **'अर्हत्प्रवचनहृदय'** जान पड़ता है, जो उमास्वातिकर्तृकसे भिन्न कोई दूसरा ही महत्वका ग्रन्थ होगा । बहुत संभव है कि **'अर्हत्प्रवचनहृदये'** के स्थान पर **'अर्हत्प्रवचने'** छप गया हो । इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसर साहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वी-

कार भी किया है। अतः उक्त वाक्यमें '**अर्हत्प्रवचने**' पद के प्रयोगमात्रसे यह नतीजा नहीं निकाला जासकता कि अकलंकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होने वाला श्वेताम्बर-सम्मत तत्वार्थभाष्य मौजूद था, उन्होंने उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है और उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है।' अकलंकदेवने तो इस भाष्यमें पाये जाने वाले कुछ सूत्रपाठोंको आर्षविरोधी-अनार्ष तथा विद्वानोंके लिये अग्राह्य तक लिखा है। तब इस भाष्यके प्रति, जिसमें वैसे सूत्रपाठ पाये जाते हों, उनके बहुमान-प्रदर्शनकी कथा कहाँ तक ठीक हो सकती है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।"

इससे स्पष्ट है कि विचारणामें उक्त प्रकारका कोई दावा अथवा तर्क उपस्थित नहीं किया गया है। '**अर्हत्प्रवचनहृदये**' के स्थान पर '**अर्हत्प्रवचने**' के छपनेकी संभावना जरूर व्यक्त की गई है परन्तु निश्चितरूपसे यह नहीं कहा गया कि '**अर्हत्प्रवचने**' पाठ अशुद्ध है, जिससे वह दावेकी कोटिमें आजाता—सम्भावना सम्भावना ही होती है, उसे दावा नहीं कह सकते। और संभावनाकी कल्पनाका कारण भी यह नहीं है कि "राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है" जिसे मेरे बिना कहे भी मेरी ओरसे इस बातको सिद्ध करनेके लिये हेतुरूपमें प्रस्तुत किया गया है कि उक्त "**अर्हत्प्रवचने**' पाठ अशुद्ध है; बल्कि यह कारण है कि—राजवार्तिकके "**गुणाभावादयुक्तिरितिचेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषुगुणोपदेशात्**" इस वार्तिक (५, ३७, २) के भाष्यमें यह बहस उठा कर कि 'गुण यह संज्ञा अन्य शास्त्रोंकी है, अर्हतोंके शास्त्रोंमें तो द्रव्य और पर्याय इन दोनोंका उपदेश होनेसे ये दो ही तत्व हैं, इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो मूल नय माने गये हैं। यदि गुण भी कोई तत्व होता तो उसके विषयको लेकर मूलनयके तीन भेद होने चाहियें थे—तीसरा मूलनय गुणार्थिक होना चाहिये था—परन्तु वह तीसरा नय नहीं है। अतः गुणाभावके कारण (द्रव्यके लिये) गुणपर्यायवान् ऐसा निर्देश ठीक नहीं है,[‡] समाधानरूपमें कहा गया है—"**तन्न किं कारणं? अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्**"। अर्थात् यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि '**अर्हत्प्रचनहृदय**' आदि शास्त्रोंमें गुणका उपदेश पाया जाता है। इसके अनन्तर ही उन शास्त्रोंके दो प्रमाण निम्न रूपसे उद्धृत किये गये हैं, जिनमेंसे एकके साथमें प्रमाण ग्रन्थकी सूचनाके रूपमें वही '**अर्हत्प्रवचने**' पद लगा हुआ है और दूसरेके साथमें पूर्व ग्रन्थसे भिन्नताका द्योतक '**अन्यत्र**' पद जुड़ा हुआ है।

"उक्तं हि अर्हत्प्रवचने द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा इति"

"अन्यत्र चोक्तं—

गुण इति दव्वयिधाणं दव्ववियारोय पज्जयो भणिदो ।
तेहि अणूणं दव्वं अजुदवसिद्धं हवदि णिच्चं ॥ १ ॥ इति

इनमेंसे पहला प्रमाण, कथनक्रमको देखते हुए, **अर्हत्प्रवचनहृदय**का और दूसरा उन शास्त्रोंमेंसे किसी एकका है जिनका ग्रहण '**अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु**' इस पदमें '**आदि**' शब्दके द्वारा किया गया है।

[‡] **"गुणा इति संज्ञा तंत्रान्तराणां, आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्वं अतश्चद्वितयमेव तद्द्वयोपदेशात्। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिक इति द्वावेव मूलनयौ। यदि गुणोपि कश्चित्स्यात्, तद्विषयेण मूलनयेन तृतीयेन भवितव्यं। न चास्त्यसावित्यतो गुणभावात्, गुणपर्यायवदिति निर्देशो न युज्यते?**

दूसरे प्रमाणमें दी हुई गाथा 'सर्वार्थसिद्धि' में भी 'उक्तं च'रूपसे पाई जाती है और इससे वह कुन्दकुन्दादि–जैसे प्राचीन आचार्योंके किसी ग्रन्थकी गाथा जान पड़ती है। ऐसी हालतमें कथनके पूर्वापर-सम्बन्धको देखते हुए, **'अर्हत्प्रवचने'** के स्थान पर **'अर्हत्प्रवचनहृदये'** पाठके होनेकी बहुत बड़ी संभावना है, इसी एक कारणसे मैंने इस संभावनाकी कल्पना की थी, जिसे समीक्षामें प्रकट भी नहीं किया गया ! और यहाँ तक लिख दिया गया है कि "इस कल्पनाका कोई आधार नहीं"!! साथ ही,यह बात भी कह दी गई हैकि 'यदि मैं किसी हस्तलिखित प्रति परसे उक्त पाठको मिलान करनेका कष्ट उठाता तो मुझे शायद वैसी कल्पना करनेका अवसर ही न मिलता,' जो उक्त विवेचन तथा आगेके स्पष्टीकरणकी रोशनीमें निरर्थक जान पड़ती है। क्योंकि कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें वही पाठ होने पर भी कथनके पूर्वाऽपरसम्बन्ध परसे जो नतीजा निकाला गया है उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। तब 'अर्हत्प्रवचन' पद अर्हत्प्रवचनहृदये' का ही संक्षिप्तरूप कहा जासकता है। बाकी प्रो० साहबने अपने लेखमें वर्तमानके मुद्रित राजवार्तिको खुद ही अधिक अशुद्ध बतलाया था, इसलिये मैंने साथमें यह भी लिख दिया था कि "इस मुद्रित प्रतिके अशुद्ध होनेको प्रोफेसरसाहबने स्वयं अपने लेखके शुरूमें स्वीकार. भी किया है;" परन्तु ऐसा तर्क नहीं किया था कि "क्योंकि राजवार्तिक बहुत जगह अशुद्ध छपा है अतएव······ ।"

इस एक नमूने और उसके विवेचनपरसे साफ प्रकटहै कि समीक्षामें सम्पादकीय विचारणाको गलतरूपसे प्रस्तुत करनेका भी आयोजन किया गया है, जिससे 'समीक्षा'समीक्षा-पदके योग्य नहीं रहती और न समीक्षकका उसमें कोई सदुद्देश्य ही कहा जासकता है। साथ ही प्रोफेसर जैसे विद्वानोंके लिये ऐसा करना शोभा भी नहीं देता। अस्तु।

अब देखना यह है कि समीक्षामें अन्य प्रकारसे क्या कुछ कहा गया है। मेरी (सम्पादकीय) 'विचारणा' का जो अंश ऊपर उद्धृत किया गया है उसकी अन्तिम पंक्तियोंमें भाष्यके प्रति अकलंकके बहुमान-प्रदर्शनकी बात पर जो आपत्तिकी गई है उसका तो समीक्षामें कहीं कोई विरोध नहीं किया गया, जिससे मालूम होता है प्रो०साहबने मेरी उस आपत्तिको स्वीकार कर लिया है। शेष अंशकी समीक्षाको क्रमशः ज्योंका त्यों नीचे दिया जाता है। साथ ही, आलोचनाको लिये हुए उसकी परीक्षा भी दी जाती है, जिससे पाठकोंको उसका मूल्य भी साथ·साथ मालूम होता रहे:—

१ समीक्षा—"मुख्तारसाहब लिखते हैं—" 'अर्हत्प्रवचनका तात्पर्य मूलतत्वार्थाधिगमसूत्रसे है, तत्वार्थ भाष्यसे नहीं।" अच्छा होता .प० जुगलकिशोरजी इस कथनके समर्थनमें कोई युक्ति देते।"

१ परीक्षा—यहाँ डबल इनवर्टेड कामाज़के भीतर जो वाक्य दिया है और जिसका मेरी ओरसे लिखा जाना प्रकट किया है ·वह उस रूपमें मेरा वाक्य न होकर प्रो० साहबके साँचेमें ढला हुआ वाक्य है, जिसे कुछ काट-छाँट करके रक्खा गया है—इस बातको पाठक 'विचारणा'की ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियों परसे सहज ही मालूम कर सकते हैं। अन्यत्र भी वाक्योंके उद्धृत करनेमें इस प्रकारकी काट-छाँट की गई है, जो प्रामाणिकता एवं विचारकी दृष्टिसे उचित मालूम नहीं होती। इस काट-छाँटके द्वारा मेरे वाक्यके शुरूका **"प्रकटरूपमें"** जैसा आवश्यक अंश भी निकाल दिया है, जो इस बातको सूचित करनेके लिये था कि 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय प्रकटरूपमें (बाह्यदृष्टिसे) मूल-

तत्वार्थाधिगम सूत्रका जान पड़ता है, सर्वथा नहीं। आभ्यन्तर अथवा साहित्यके पूर्वापरसम्बन्धकी दृष्टिसे विचार करने पर वह 'अर्हत्प्रचनहृदय' का वाचक जान पड़ता है, जिसके स्थान पर वह या तो गलत छपा है और या उसके लिये संक्षिप्त रूपमें प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ऊपर ज़ाहिर किया जाचुका है।

रही कथनके समर्थनमें कोई युक्ति न देनेकी शिकायत, वह बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है! वह कथन तो 'विचारणा' में युक्ति देनेके अनन्तर ही **"इसलिये प्रकटरूपमें"** इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। **"उक्तंहि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' इति,"** इस वाक्यमें गुणोंके लक्षणको लिये हुए जिस सूत्रका उल्लेख है वह चूंकि तत्वार्थाधिगमसूत्रके पाँचवें अध्यायका ४० वाँ सूत्र है, इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का अभिप्राय यहाँ उमास्वातिके मूलतत्वार्थाधिगमसूत्रका जान पड़ता है, यह कथन क्या प्रो० साहब की समझमें युक्तिविहीन है? यदि है तो ऐसी समझ की बलिहारी है! और यदि नहीं तो कहना होगा कि समीक्षामें युक्ति न देनेकी शिकायत करके 'विचारणा' को गलतरूपमें प्रस्तुत किया गया है।

यहाँप र इतना और भी जान लेना चाहिये कि 'विचारणा' के शुरूमें जो यह पूछा गया था कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें उल्लेखित 'अर्हत्प्रवचन' से तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है—मूलसूत्रका नहीं, ऐसा जो प्रो० साहबने घोषित किया है वह कहाँसे और कैसे फलित होता है? उसका समीक्षामें कोई उत्तर अथवा समाधान नहीं है।

२ समीक्षा—"सिद्धसेनगणिके वाक्यमें अर्हत्प्रचन विशेषण प्रायः तत्वार्थाधिगमसूत्रके लिये है, मात्र उसके भाष्यके लिये नहीं।" यहाँ प्रायः शब्दसे आपको क्या इष्ट है, यह भी स्पष्ट नहीं होता।" (इसके बाद सिद्धसेनगणिका वह वाक्य फिरसे दिया है, जो प्रो० साहबके चौथे भागकी युक्तियोंका उल्लेख करते हुए ऊपर उद्धृत किया जाचुका है।)

२ परीक्षा—उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए "**मात्र** उसके भाष्यके लिये नहीं" इन शब्दों परसे '**प्रायः**' शब्दके इष्टको सहज ही में समझा जासकता है। वह बतलाता है कि 'अर्हत्प्रवचन' विशेषण, जो 'तत्वार्थाधिगम' नामक सूत्रके ठीक पूर्वमें पड़ा है वह **अधिकांश** में अपने उत्तरवर्ती विशेष्य (तत्वार्थाधिगम) के लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि दूसरे नम्बर पर पड़े हुए 'भाष्य' का "उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्र" यह विशेषण भाष्य शब्दके साथ जुड़ा हुआ है और तीसरे नम्बर पर पड़ी हुई 'टीका'के दो विशेषण—'भाष्यानुसारिणी' और 'सिद्धसेनगणिविरचिता'—उसी 'टीकायां' पदके आगे-पीछे लगेहुए हैं। इस तरह उक्त वाक्यमें मूल तत्वार्थाधिगम सूत्र, भाष्य और टीका तीनों ग्रन्थोंके मुख्य विशेषणोंकी अलग अलग व्यवस्था है। मूलसूत्र और भाष्यका एक ही ग्रन्थकर्ता माने जानेकी हालतमें मूलसूत्र (तत्वार्थाधिगम) के 'अर्हत्प्रवचन' विशेषणको वहाँ कथंचित् भाष्यका विशेषण भी कहा जासकता है—सर्वथा नहीं। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि जहाँ भी 'अर्हत्प्रवचन' का उल्लेख देखा जाय वहाँ उसे तत्वार्थाधिगमसूत्रका प्रस्तुत भाष्य समझ लिया जाय। ऐसा समझना नितान्त भ्रम तथा भूल होगा। इसी अनेकान्तका द्योतन करनेके लिये उक्त वाक्यमें 'प्रायः' तथा '**मात्र**' जैसे शब्दोंका प्रयोग हुआ है। जो कथनके पूर्वापरसम्बंध परसे भले प्रकार समझा जासकता है।

३ समीक्षा—"यहाँ [सिद्धसेनगणिके उक्त वाक्यमें] अर्हत्प्रवचने, तत्वार्थाधिगमे और उमास्वातिवाचकोपज्ञ-

सूत्रभाष्ये—ये तीनों पद सप्तम्यन्त हैं । उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्यसे स्पष्ट है कि उमास्वातिवाचकका स्वोपज्ञ कोई भाष्य है । इसका नाम तत्त्वार्थाधिगम है । इसे अर्हत्प्रवचन भी कहा जाता है । स्वयं उमास्वातिने अपने भाष्यकी निम्न कारिकामें इसका समर्थन किया है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथं ।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥”

३ परीक्षा—यह ठीक है कि 'अर्हत्प्रवचने' आदि तीनों पद सप्तम्यन्त हैं; परन्तु सप्तम्यन्त होने मात्रसे क्या सिद्ध होता है ? यह यहाँ कुछ बतलाया नहीं गया ! यदि सप्तम्यन्त होने मात्रसे प्रो० साहबको यह बतलाना इष्ट हो कि जो जो पद सप्तम्यन्त हैं वे सब एक ही ग्रन्थके वाचक है तो क्या उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए दूसरे सप्तम्यन्त पदों—**'टीकायां'** आदिका वाच्य भी आप एक ही ग्रन्थ बतलाएँगे ? यदि ऐसा न बतलाकर टीकाको भाष्यसे अलग ग्रन्थ बतलाएँगे तो फिर टीका और भाष्यसे भिन्न मूल 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्रको वहाँ अलग ग्रन्थरूपसे उल्लेखित बतलानेमें क्या आपत्ति हो सकती है ? सिद्धसेनकी तत्त्वार्थवृत्तिमें तो मूलसूत्र, सूत्रका भाष्य और भाष्यानुसारिणी टीका तीनों ही शामिल हैं और तीनों ही की समाप्तिको लिये हुए सप्तम अध्यायका उक्त संधिवाक्य (पुष्पिका) है । ऐसा भी नहीं कि सप्तम अध्यायका जो विषय **'अनगारागारि-धर्मप्ररूपण'** बतलाया है वह मूलसूत्रका विषय न होकर भाष्य तथा टीकाका ही विषय हो । ऐसी हालतमें **'तत्त्वार्थाधिगमे'** पदको उसके **'अर्हत्प्रवचने'** विशेषण-सहित मूलतत्त्वार्थसूत्रका वाचक न मानना युक्तिशून्य जान पड़ता है । वास्तवमें उक्त वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—

'तत्त्वार्थाधिगम नामके अर्हत्प्रवचनमें, उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्यमें, और भाष्यानुसारिणी टीकामें, जोकि सिद्धसेनगणि-विरचित है, अनगार (मुनि) और अगारि (गृहस्थ) धर्मका प्ररूपक सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।'

और इसलिये प्रो० साहबका **'अर्हत्प्रवचने'** आदि तीन सप्तम्यन्त पदोंको एक ही ग्रन्थ **'भाष्य'** का वाचक समझना और यह बतलाना कि भाष्यका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' है और उसीको 'अर्हत्प्रवचन' भी कहा जाता है, नितान्त भ्रममूलक है । भाष्यका नाम न तो 'तत्त्वार्थाधिगम' है और न 'अर्हत्प्रवचन'; **'तत्वार्थाधिगम'** मूलसूत्रका नाम है और **'अर्हत्प्रवचन'** यहाँ **'अर्हत्प्रवचनसंग्रह'** के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है, जो कि मूलतत्वार्थसूत्रका ही नाम है; जैसाकि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा संवत् १९५९ में प्रकाशित तत्वार्थाधिगमसूत्रके निम्न संधिवाक्यसे प्रकट है—

“इति तत्त्वार्थाधिगमाख्येऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे देवगतिप्रदर्शनो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।”

तत्वार्थसूत्रके इस संस्करणमें, जो बहुतसी ग्रंथप्रतियोंके आधार पर भाष्य-सहित मुद्रित हुआ है, सर्वत्र संधिवाक्योंमें 'तत्वार्थाधिगम' और 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' ये दोनों ही नाम मूलसूत्रके दिये हैं । तत्वार्थसूत्रकी जिस सटिप्पण प्रतिका परिचय मैंने अनेकान्तके 'वीरशासनाङ्क' में दिया था उसमें भी सर्वत्र **'इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमो (द्वितीयो, तृतीयो ···) ऽध्यायः'** रूपसे मूलसूत्रके लिये इन्हीं दोनों नामोंका प्रयोग किया है । खुद सिद्धसेनगणिकी टीकामें भी दूसरे अनेक स्थानों पर जहाँ भाष्यका नाम भी साथमें उल्लेखित

नहीं है*, इन्हीं दोनों नामोंका मूलसूत्रके लिये प्रयोग पाया जाता है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"इति तत्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्वार्थटीकायां(वृत्तौ)संवर(मोक्ष) स्वरूपनिरूपको नवमो (दशमो)ऽध्यायः ।"

इसके अतिरिक्त भाष्यकी जिस कारिकाको प्रो० साहबने अपने कथनकी पुष्टिमें प्रमाणरूपसे पेश किया है उसमें भी 'तत्त्वार्थाधिगम' यह नाम मूल सूत्रग्रंथ (बह्वर्थ लघुग्रंथ) का बतलाया है और साथ ही उसे 'अर्हद्वचनैकदेशका संग्रह' बतलाकर प्रकारान्तरसे उसका दूसरा नाम 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' भी सूचित किया है—भाष्यके लिये इन दोनों नामोंका प्रयोग नहीं किया है, जैसा कि प्रो० साहब समझ बैठे हैं ! चुनाँचे खुद प्रो० साहबके मान्य विद्वान् सिद्धसेन गणि भी इस कारिकाकी टीकामें ऐसा ही सूचित करते हैं, वे 'तत्वार्थाधिगम' को इस सूत्रग्रन्थकी अन्वर्थ (गौणयाख्या) संज्ञा बतलाते हैं और साफ़ तौरसे यहाँ तक लिखते हैं कि जिस लघुग्रन्थके कथनकी प्रतिज्ञाका इसमें उल्लेख है वह मात्र दोसौ श्लोक-जितना है । यथा:—

"तत्त्वार्थोऽधिगम्यतेऽनेनास्मिन् वेति तत्वार्थाधिगमः, इयमेवास्य गौणयाख्या नामेति तत्वार्थाधिगमाख्यस्तं, बह्वर्थं सच बह्वर्थः बहुविपुलोऽर्थोऽस्येति बह्वर्थः सप्त पदार्थनिर्णयएतावांश्च ज्ञेयविषयः । संग्रहं समासं, लघुग्रंथं श्लोकशतद्वयमात्रं ।"

दोसौ श्लोक जितना प्रमाण मूलग्रंथका ही है, भाष्यका नहीं—भाष्यका परिमाण तो उससे कई गुणा अधिक है । ग्रन्थके बह्वर्थ और लघु (अल्पाक्षर) विशेषण भी उसके सूत्रग्रंथ होनेको ही बतलाते हैं, अतः इस विषयमें कोई संदेह नहीं रहता कि 'तत्त्वार्थाधिगम' और 'अर्हत्प्रवचनसंग्रह' ये दोनों मूल तत्वार्थसूत्रके ही नाम हैं—उसके भाष्यके नहीं ।

और इसलिये राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें प्रयुक्त हुए **'अर्हत्प्रवचने'** पद परसे प्रो० साहबने जो यह नतीजा निकालना चाहा था कि उससे **तत्वार्थभाष्यका ही अभिप्राय है** वह नहीं निकाला जा सकता, और न उसके आधार पर यह फलित ही किया जा सकता है कि 'अकलंकदेवके सामने वर्तमानमें उपलब्ध होनेवाला श्वेताम्बर-सम्मत तत्वार्थभाष्य मौजूद था और उन्होंने उसके द्वारा उसके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है तथा उसके प्रति बहुमान भी प्रदर्शित किया है ।' खेद है कि प्रो० साहबको इतना भी विचार नहीं आया कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें जिस सूत्र (**'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः'**) का उल्लेख है वह भाष्यकी कोई पंक्ति न हो कर मूलतत्वार्थसूत्रका वाक्य है, और इसलिये प्रकटरूपमें 'अर्हत्प्रवचन' का यदि कोई दूसरा अर्थ लिया जाय तो वह उमास्वातिका मूलतत्वार्थाधिगमसूत्र होना चाहिये, न कि उसका भाष्य ! फिर उस अर्थ तक तो उनकी दृष्टि ही कहाँ पहुँचती, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर परीक्षा नं० २ में और उसके पूर्व किया जा चुका है । बहुत संभव है कि प्रथम लेखके लिखते समय प्रो० साहबके सामने राजवार्तिक और सिद्धसेनकी टीका न रहकर उनके नोट्स ही रहे हों तथा साथमें पं० सुखलालजीकी हिन्दी टीकाकी प्रस्तावना भी रही हो और उन्हीं परसे आपने अपने लेखका

---

* **'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये'** इस प्रकारसे भाष्यका नाम साथमें उल्लेख करने वाला पद सातवें अध्यायको छोड़ कर अन्य किसी भी अध्यायके अन्तमें नहीं पाया जाता है ।

संकलन किया हो, और समीक्षाके समय भी उन ग्रन्थों को देखनेकी ज़रूरत न समझी हो। इसीसे आप अपनी समीक्षामें कोई महत्वका क़दम न उठा सके हों और आपकी यह सब समीक्षा महज़ उत्तरके लिये ही उत्तर लिखे जानेके रूपमें लिखी गई हो।

४ समीक्षा--"इसके अतिरिक्त कुछ ही पहिले मुख्तार साहब कह चुके हैं कि "**'अर्हत्प्रवचन'** विशेषण मूल तत्वार्थसूत्रके लिये प्रयुक्त हुआ है" तो फिर यदि अकलंकदेव "**उक्तं हि अर्हत्प्रवचने 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**" कहकर यह घोषित करें कि अर्हत्प्रचनमें अर्थात् तत्वार्थसूत्रमें (स्वयं मुख्तारसाहबके ही कथनानुसार) "**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**" कहा है तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? 'अर्हत्प्रवचन' पाठको अशुद्ध बताकर उसके स्थानमें 'अर्हत्प्रवचनहृदय' पाठकी कल्पना करनेका तो यह अर्थ निकलता है कि अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई सूत्रग्रन्थ रहा होगा, तथा "**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**" यह सूत्र तत्वार्थसूत्रका न होकर उस अर्हत्प्रवचनहृदयका है जो अनुपलब्ध है।"

४ परीक्षा—यहाँ भी डबलइन्वर्टेड कामाज़के भीतर दिये हुए मेरे वाक्यको कुछ बदल कर रक्खा है और वह तबदीली उससे भी बढ़ी चढ़ी तथा अनर्थ-कारिणी है जो इसी वाक्यको इससे पहलेकी समीक्षा (नं० १) में देते हुए कीगई थी। शुरूका वह 'प्रकटरूपमें' अंश इसमेंसे भी निकाल दिया गया है जो मेरे कथनकी दृष्टिको बतलाने वाला था और जिसकी उपयोगिता एवं आवश्यकतादिको परीक्षा नं १ में बतलाया जा चुका है। अस्तु; मेरा वाक्य जिस रूपसे ऊपर उद्धृत 'विचारणा'में दिया हुआ है उसे ध्यानमें रखते हुए, इस समीक्षाका अधिकांश कथन अविचारित रम्य जान पड़ता है। वास्तवमें मेरे कथनकी दृष्टि मेरे साथ है और अकलंकके कथनकी दृष्टि अकलंकके साथ। मेरी कथनदृष्टिसे, जो बात आपत्तिके योग्य नहीं, अकलंककी कथन दृष्टिसे वही आपत्तिके योग्य हो जाती है; तब अकलंक मेरी कथनदृष्टिसे अपना कथन क्यों करने लगे? उसकी कल्पना करना ही निरर्थक है। अकलंकके कथनकी दृष्टि उनके उस वार्तिक तथा वार्तिकके भाष्यमें संनिहित है जिसका उल्लेख ऊपर 'विचारणा' को उद्धृत करनेके अनन्तर की गई विवेचनामें किया गया है। उसके अनुसार 'अर्हत्प्रवचन' से अकलंकका अभिप्राय 'अर्हत्प्रवचनहृदय' का जान पड़ता है—उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रका नहीं। उमास्वातिके '**गुणपर्यायवद्द्रव्यं**' इस सूत्रमें आए हुए 'गुण' शब्दके प्रयोग पर तो वहाँ यह कहकर आपत्ति की गई है कि 'गुण' संज्ञा अन्य शास्त्रोंकी है, आर्हतोंके शास्त्रोंमें तो द्रव्य और पर्याय इन दोनोंका उपदेश होनेसे ये ही दो तत्त्व हैं, इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो मूल नय माने गये हैं। यदि 'गुण' भी कोई वस्तु होती तो उसके विषयको लेकर मूलनयके तीन भेद होने चाहियें थे; परन्तु तीसरा मूलनय (गुणार्थिक) नहीं है। अतः गुणोपदेशके अभावके कारण सूत्रकारका द्रव्यके लिये गुणपर्यायवान् ऐसा निर्देश करना ठीक नहीं है।' और फिर इस आपत्तिके समाधानमें कहा गया है कि 'वह इसलिये ठीक नहीं है क्योंकि 'अर्हत्प्रवचन हृदय' आदि शास्त्रोंमें गुणका उपदेश पाया जाता है, और इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'अर्हत्प्रवचनहृदय' जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें पहलेसे गुणतत्त्वका विधान है, उमास्वातिने वहींसे उसका ग्रहण किया है, इसलिये उनका यह निर्देश अप्रामाणिक तथा आपत्तिके योग्य नहीं है। प्रमाणमें दो शास्त्रोंके वाक्योंको उद्धृत किया है,

जिनमेंसे एक तो मुख्यतया नाम लेकर उल्लेखित 'प्रवचनहृदय' का और दूसरा 'आदि' शब्दके द्वारा उल्लेखित किसी अन्य ग्रन्थका होना चाहिये। साथ ही ये दोनों ग्रंथ उमास्वातिसे पूर्ववर्ती होने चाहियें; तभी इनके द्वारा उक्त आपत्तिका परिहार हो सकता है। पहले वाक्यके साथ प्रमाणग्रंथकी सूचनाके रूपमें 'अर्हत्प्रवचने' पद लगा हुआ है, जिसका मूलरूप या तो उसके पूर्ववर्ती भाष्य और वार्तिकके अनुसार 'अर्हत्प्रवचनहृदये' है और या वह उसके लिये प्रयुक्त हुआ उसका संक्षिप्तरूप है। इस ग्रंथका जो वाक्य उद्धृत किया है वह "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" है। यह वाक्य यद्यपि उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रमें पाया जाता है। परन्तु वह मूलतः उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका नहीं हो सकता; क्योंकि उमास्वातिकी सूत्ररचना पर उठाई गई उक्त आपत्तिका परिहार उन्हींके शास्त्रवाक्यसे नहीं किया जा सकता—वह असंगत जान पड़ता है। ऐसी हालत में यह मानना होगा कि उमास्वातिने अपने ग्रन्थमें उक्त वाक्यका संग्रह 'अर्हत्प्रवचनहृदय' ग्रन्थ परसे किया है। उनका तत्वार्थसूत्र अर्हत्प्रवचनका एकदेशसंग्रह होनेसे, इसमें आपत्तिकी कोई बात भी नहीं है। और इसलिये 'अर्हत्प्रवचने' पदको 'अर्हत्प्रवचनहृदये' पदका अशुद्धरूप अथवा संक्षिप्तरूप कल्पना करने पर जो अर्थ निकलता है उसे निकलने दीजिये, इसमें भयकी कोई बात नहीं है; क्योंकि उक्त कल्पना निरर्थक नहीं है। अकलंकदेवने बहुत स्पष्ट शब्दोंमें 'अर्हत्प्रवचनहृदय' ग्रंथके अस्तित्वकी सूचना की है। उनके 'अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु पदमें प्रयुक्त हुए 'आदि' शब्दसे और दो शास्त्रोंके वाक्योंको प्रमाणमें उद्धृत करनेसे उसकी स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती है, और वह अति प्राचीन सूत्रग्रंथ जान पड़ता है। और इसलिए इस प्रकारके कथनमें कोई सार नहीं कि 'अर्हत्प्रवचनहृदय नामका कोई ग्रन्थ अब तक कहीं सुनने में नहीं आया अथवा उसका कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता।' राजवार्तिकमें उसका स्पष्ट उल्लेख है और वह कुछ कम महत्वका नहीं है। इससे पहले यदि अर्हत्प्रवचनहृदयका नाम नहीं सुना गया तो वह अब सुना जाना चाहिये। सैंकड़ों महत्वके ग्रंथ रचे गये हैं, जिनके आज हम नाम तक भी नहीं जानते और जो नष्ट हो चुके अथवा लुप्तप्राय हो रहे हैं, उनमेंसे कोई ग्रंथ यदि कहीं उल्लेखित मिल जाय या उपलब्ध हो जाय तो क्या उसके अस्तित्वसे महज़ इसलिये इनकार किया जासकता है कि उसका नाम पहलेसे सुननेमें नहीं आया था? यदि नहीं तो फिर उक्त प्रकारके कथनका क्या नतीजा, जो प्रो० साहबकी समीक्षामें अन्यत्र (लेखके शुरूमें) प्रकीर्णक रूपसे पाया जाता है? ऐसे ग्रंथोंका तो कुछ भी अनुसन्धान मिलने पर—सुराग़ चलने पर—उनकी खोजका पूरा प्रयत्न होना चाहिये।

२ समीक्षा—"श्वेताम्बरग्रन्थोंमें आगमोंको निर्ग्रंथ-प्रवचन अथवा अर्हत्प्रवचनके नामसे कहा गया है। स्वयं उमास्वातिने अपने तत्त्वार्थाधिगमभाष्यको 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है, जैसा ऊपर आ चुका है। अर्हत्प्रवचनहृदय अर्थात् अर्हत्प्रवचनका हृदय, एक देश अथवा सार। इस तरह भी अर्हत्प्रवचनहृदयका लक्ष्य भाष्य हो सकता है। अथवा अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं। हमारी समझसे भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य है। जब तक अर्हत्प्रवचनहृदय आदि किसी प्राचीन ग्रन्थका कहीं उल्लेख न मिल जाय, तब तक पं० जुगलकिशोरजीकी

कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता।"

९ परीक्षा—समीक्षाके इस अंशमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। इसमें अधिकाँश बातें ऐसी हैं जिन पर ऊपरकी परीक्षाओंमें काफ़ी प्रकाश डाला जा चुका है अथवा उन परीक्षाओंकी रोशनीमें जिनकी आलोचना करके उन्हें सहज ही में निःसार प्रमाणित किया जा सकता है। इसलिये उन पर पुनः अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं; यहाँ संक्षेपरूपमें इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि—दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी आगमोंके लिये अर्हत्प्रवचन जैसे नामोंका उल्लेख है, 'ऊपर आ चुका है' इन शब्दोंके द्वारा '**तत्वार्थाधिगमाख्यं**' नामकी जिस कारिकाकी ओर संकेत किया गया है उसमें 'तत्वार्थाधिगम' नामके मूलग्रन्थको, 'अर्हद्वचनैकदेश' कहा है—भाष्यको नहीं, अर्हत्प्रवचनहृदयका लक्ष्य भाष्य किसी प्रकार भी नहीं हो सकता—वह मूलसूत्र ग्रंथ है और उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रसे पहलेका रचा होना चाहिए, 'अर्हत्प्रवचन'का प्रयोग यदि 'अर्हत्प्रवचनहृदय' के स्थान पर संक्षेपरूपमें किया गया हो तो दोनों एकार्थक भी हो सकते हैं, अन्यथा नहीं; 'अर्हत्प्रवचनहृदय' आदि दो प्राचीनग्रन्थोंका स्पष्ट उल्लेख अकलंकके राजवार्तिकमें मिल रहा है, इसलिये "जब तक कहीं उल्लेख न मिल जाय तब तक पं० जुगलकिशोरजीकी कल्पनाओंका कोई आधार नहीं माना जा सकता" यह कथन कोरा प्रलाप जान पड़ता है।

अब रही प्रोफेसर साहबकी समझकी बात, आपकी समझके अनुसार राजवार्तिकमें जहाँ कहीं भी भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन नामोंका उल्लेख है उन सबका लक्ष्य उमास्वातिका (उमास्वातिके नाम पर चढ़ा हुआ) प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य है। परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। भाष्यके जिन दो उल्लेखोंको आपने अपने प्रथम लेखमें प्रस्तुत किया था और जिन्हें, आपकी युक्तियोंका परिचय देते हुए, ऊपर (भाग नं० ४ में) उद्धृत किया जा चुका है, वे श्वेताम्बर-सम्मत प्रस्तुत भाष्यके उल्लेख नहीं हैं, यह बात सम्पादकीय विचारणामें स्पष्ट की जा चुकी है। स्पष्ट करते हुए राजवार्तिककी अन्तिम कारिकाके उल्लेख-विषयमें जो युक्तियां दी गई थीं उन पर इस समीक्षामें कोई आपत्ति नहीं की गई, जिससे ऐसा मालूम होता है कि प्रो० साहबने उन्हें स्वीकार कर लिया है—अर्थात् यह मान लिया है कि उस अन्तिम कारिकामें प्रयुक्त हुए '**भाष्य**" पदका अभिप्राय राजवार्तिक नामक तत्वार्थभाष्यके सिवा किसी दूसरे भाष्यका नहीं है। दूसरे उल्लेखको इष्टसिद्धिके लिये असंगत और असमर्थ बतलाते हुए जो युक्तियां दी गई थीं उनसे अभी तक प्रो० साहबको संतोष नहीं हुआ, इसलिये उनकी समीक्षाका इस लेखमें आगे चल कर विशेष विचार किया जायगा; साथमें 'वृत्ति' का जो नया उल्लेख समीक्षामें उपस्थित किया गया है उस पर भी विचार किया जायगा, और इस सब विचार-द्वारा यह स्पष्ट किया जायगा कि भाष्य और वृत्ति दोनोंके उल्लेख इष्टसिद्धिके लिये—उन्हें प्रस्तुत भाष्यके उल्लेख बतलाने के लिये—पर्याप्त नहीं हैं। बाकी अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदयके उक्त उल्लेखोंके विषयमें ऊपर यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि वे प्रस्तुत भाष्य तो क्या, उमास्वातिके मूल तत्वार्थसूत्रके भी उल्लेख नहीं हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि 'प्रवचन'का अर्थ आगम है ("**आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो**"—धवला) और इसलिये 'अर्हत्प्रवचन' का अर्थ हुआ अर्हदागम—जिनागम आदि। अर्हत्प्रवचनको कलंकदेवने जिनप्रवचन, जैनप्रवचन, आर्हतप्रवचन, आर्हतआगम और परमागम जैसे नामोंसे

भी उल्लेखित किया है और उसे 'अर्हत्प्रोक्त,' 'अनादिनिधन' जैसे विशेषणोंसे विशेषित करते हुए यहाँ तक लिखा है कि वह संपूर्ण ज्ञानोंका आकर है—कल्प, व्याकरण, छंद और ज्योतिषादि समस्त विद्याओंका प्रभव (उत्पाद) उसीसे है। जैसा कि नीचेके कुछ अवतरणोंसे प्रकट है—

"आर्हते हि प्रवचने ऽनादिनिधने ऽर्हदादिभिःयथाकालं अभिव्यक्तज्ञानदर्शनातिशयप्रकाशैरवद्योतितार्थसारे रूढा एताः (धर्मादयः) संज्ञा ज्ञेयाः।" पृ०१८१

"तस्मिन् जिनप्रवचने निर्दिष्टोऽहिंसादिलक्षणो धर्म-इत्युच्यते।" —पृ०२६१

"अर्हता भगवता प्रोक्ते परमागमेप्रतिषिद्धः प्राणिवधः"

"आर्हतस्य प्रवचनस्य परमागमत्वमसिद्धं तस्य पुरुषकृतित्वे सति अयुक्तेरिति तन्न, किंकारणं? अतिशयज्ञानाकरत्वात्।"

"स्यान्मतमन्यत्रापि अतिशयज्ञानानि दृश्यन्ते कल्पव्याकरणछंदज्योतिषादीनि ततोनैकान्तिकत्वात् नायं हेतुरिति'। तन्न। किं कारणं? अत एव तेषां संभवात्। आर्हतमेव प्रवचनं तेषां प्रभवः।"

"आर्हतमेव प्रवचनं सर्वेषां अतिशयज्ञानानां प्रभव इति श्रद्धामात्रमेतत् न युक्तिक्षममिति। तन्न……। तथा सर्वातिशयज्ञानविधानत्वात् जैनमेव प्रवचनंआकर इत्यवगम्यते।" —पृ०२९५

ऐसी हालतमें अकलंककी दृष्टिसे 'अर्हत्प्रवचन' अथवा आर्हतप्रवचनका वाच्य प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य नहीं हो सकता। इन अवतरणोंमें आए हुए अर्हत्प्रवचनके उल्लेखोंको भी प्रो० साहब यदि उक्त भाष्यके ही उल्लेख समझते हैं तो कहना होगा कि यह समझ ठीक नहीं है—सदोष है। और यदि नहीं समझते तो उनकी वह प्रतिज्ञा बाधित ठहरेगी अथवा उनके इस कथनमें विरोध आएगा जिसमें भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सबका एक लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत भाष्य बतलाया गया है। अस्तु।

ऊपरकी इन सब परीक्षाओं परसे स्पष्ट है कि प्रोफेसर साहबकी समीक्षाओंमें कुछ भी तथ्य अथवा सार नहीं है, और इसलिये वे चौथे भागके 'क' उपभाग में दी हुई अपनी प्रधान युक्तिका समर्थन करने और उस पर कीगई सम्पादकीय-विचारणाका कदर्थन करके उसे असत्य अथवा अयुक्त ठहरानेमें बिल्कुल ही असमर्थ रहे हैं। 'ग' उपभागकी युक्ति अथवा मुद्दे पर जो विचारणा कीगई थी उसकी कोई समीक्षा आपने की ही नहीं, और इसलिये उसे प्रकारान्तरसे मान लिया जान पड़ता है, जैसा कि पहले जाहिर किया जा चुका है। अब रही 'ख' उपभागके मुद्दे (युक्ति)की बात, प्रो० साहबने राजवार्तिकसे "कालोपसंख्यानमिति चेन्न वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्—स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं, अतोऽस्योपसंख्यानं कर्तव्यं इति? तन्न, किंकारणं वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्," इस अंशको उद्धृत करके यह प्रतिपादन किया था कि अकलंकदेवने इसमें प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यका स्पष्ट उल्लेख किया है। इस पर आपत्ति करते हुए मैंने अपनी जो 'विचारणा' उपस्थित की थी वह निम्न प्रकार है:—

"चौथे नम्बरके 'ख' भागमें राजवार्तिकका जो अवतरण दिया गया है उसमें प्रयुक्त हुए "यद्भाष्ये बहु कृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं" इस वाक्यमें जिस भाष्य का उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य नहीं हो सकता; क्योंकि इस भाष्यमें बहुत बार तो क्या एक बार भी 'षड्द्रव्याणि' ऐसा कहीं उल्लेख अथवा विधान नहीं मिलता। इसमें तो स्पष्टरूपसे पाँच ही द्रव्य

मानेगये हैं, जैसाकि पांचवें अध्याय के 'द्रव्याणि जीवाश्च' इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है– "एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंचद्रव्याणि च भवन्तीति" और फिर तृतीय सूत्रमें आए हुए 'अवस्थितानि' पदकी व्याख्या करतेहुए इसी बात को इस तरहपर पुष्ट किया है कि–"न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पांचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते। सिद्धसेन गणीने भी उक्त तीसरे सूत्रकी अपनी व्याख्यामें इस बातको स्पष्ट किया है और लिखा है कि, 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचक के मतसे नहीं, वे तो द्रव्योंकी पांच ही संख्या मानते हैं।' यथा—

"कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते, वाचकमुख्यस्य पंचैवेति।"

ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि अकलंकदेवके सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था।"

मेरी इस विचारणाको सदोष ठहराने और अपने अभिमतको पुष्ट करने अथवा इस बातको सत्य सिद्ध करनेके लिये कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यमें जिस भाष्यका उल्लेख है वह श्वेताम्बर-सम्मत वर्तमानका भाष्य ही है, इसकी खास जरूरत थी कि प्रो० साहब कमसे कम तीन प्रमाण भाष्यसे ऐसे उद्धृत करके बतलाते जिनमें "षड्द्रव्याणि" जैसे पद प्रयोगोंके द्वारा छह द्रव्योंका विधान पायाजाता हो; क्योंकि "बहुकृत्वः" (बहुत बार) पद का वाच्य कमसे कम तीन बार तो होना ही चाहिए। साथही, यह भी बतलानेकी जरूरत थी कि जब भाष्यकार दूसरे सूत्रके भाष्यमें द्रव्योंकी संख्या स्वयं पांच निर्धारित करते हैं–उसे गिनकर बतलाते हैं–और तीसरे सूत्रके भाष्यमें यहांतक लिखते हैं कि ये द्रव्य नित्य हैं तथा कभी भी पांचकी संख्यासे अधिक अथवा कम नहीं होते, और उनकी इस बातको सिद्धसेनगणि इन शब्दोंमें पुष्ट करते हैं कि 'काल किसीके मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचकके मतसे नहीं, वेतो द्रव्योंकी पांचही संख्या मानते हैं, तब प्रस्तुत भाष्यमें षड्द्रव्योंका विधान कैसे होसकता है? और षड्द्रव्योंका विधान मानने पर उक्त वाक्यों को असत्य अथवा अन्यथा कैसे सिद्ध किया जासकता है? परन्तु स्पष्ट शब्दोंमें ऐसा कुछ भी न बतलाकर प्रोफेसर साहबने प्रस्तुत विषयको यों ही घुमा-फिराकर कुछ गड़बड़में डालने की चेष्टा की है, और जैसे तैसे मेरी विचारणाके उत्तरमें कुछ-न-कुछ कहकर निवृत्त होना चाहा है। विचारका यह तरीका ठीक नहीं है। अस्तु, अब मैं क्रमशः इस विषयकी भी समीक्षाओं को लेता हूँ और परीक्षा द्वारा उनकी निःसारताको व्यक्त करता हूँ।

६ समीक्षा—"श्वेताम्बर आगमोंमें कालद्रव्य-सम्बन्धी दो मान्यताओंका कथन आता है। भगवतीसूत्रमें द्रव्योंके विषयमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"कइणं भंते! दव्वा पन्नता! गोयमा! छ दव्वा पन्नत्ता। तं जहा–धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमये" अर्थात् द्रव्य छह हैं, धर्मास्तिकायसे लेकर कालद्रव्य तक। आगे चलकर कालद्रव्यके सम्बन्धमें प्रश्न होने पर कहा गया है—"किमियं भंते कालोत्ति पवुच्चइ? गोयमा जीवा चेव अजीवा चेव" अर्थात् कालद्रव्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। जीव और अजीव ये दो ही मुख्य द्रव्य हैं। काल इनकी पर्यायमात्र है। यही मतभेद उमास्वाति

ने "कालश्चेत्येके" सूत्रमें व्यक्त किया है। इसका यह मतलब नहीं उमास्वाति कालद्रव्यको नहीं मानते, उन्होंने कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया,अथवा उसे जीव अजीवकी पर्याय नहीं बताया।"

६ परीक्षा—'कालश्चेत्येके' सूत्र में क्या मत-भेद व्यक्त किया गया है, इसके लिये सबसे अच्छी कसौटी इसका भाष्य हैं, और वह इस प्रकार है—

'एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।'

इसमें सिर्फ इतना ही निर्देश किया है कि 'कोई कोई आचार्य तो काल भी द्रव्य है ऐसा कहते हैं' अर्थात् कुछ आचार्यों के मतसे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पांच द्रव्योंके अतिरिक्त काल भी छठा द्रव्य है, जिसका स्पष्ट आशय यह होता है कि ग्रन्थकार के मत से काल कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, और इसलिये उनकी ओर से इस ग्रन्थ में छह द्रव्यों का विधान किया गया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि सूत्रकार के मत से काल कोई स्वतंत्र द्रव्य न होकर जीव अजीव की पर्याय मात्र है और इसी मत को इस सूत्रमें, दूसरे मत को दूसरों का बतलाते हुए, व्यक्त किया गया है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इस सूत्र के रचयिता उमास्वाति काल को 'द्रव्य' मानते हैं अथवा उन्होंने द्रव्य रूप से कालका खण्डन नहीं किया? द्रव्य नित्य होता है, ध्रौव्य रूप होता है और द्रव्यार्थिक नयका विषय होता है, ये सब बातें उस व्यवहार काल में घटित नहीं होतीं जिसे स्वतंत्र सत्तारूप न मानकर जीव अजीव की पर्याय मात्र कहा जाता है। यहां द्रव्यत्व रूप से कालके विचार का प्रसंग चल रहा है, और इसलिये यह कहना कि "उन्होंने कहीं भी काल का खण्डन नहीं किया, अथवा उसे जीव अजीव की पर्याय नहीं बताया" निरर्थक जान पड़ता है।

७ समीक्षा—"कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च"—भाष्यकी इस पंक्तिका भी यही अर्थ है कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" सूत्रमें 'काय' शब्दका ग्रहण प्रदेशबहुत्व बतानेके लिये और कालद्रव्यका निषेध करने के लिये किया गया है। क्योंकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे (?) कायवान् नहीं। इससे स्पष्ट है कि उमास्वाति काल को स्वीकार करते हैं, अन्यथा उसका निषेध कैसा? यहां प्रश्न हो सकता है कि फिर "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस भाष्यकी पंक्तिका क्या अर्थ है? इसका उत्तर है कि यहां पंचत्त्व कहनेसे उमास्वातिका अभिप्राय पांच द्रव्योंसे न होकर पांच अस्तिकायोंसे है। उमास्वाति कहना चाहते हैं कि अस्तिकायरूपसे पांच द्रव्य हैं; काल का कथन आगे चलकर 'कालश्चेत्येके' सूत्रसे किया जायगा।

७ परीक्षा—यह समीक्षा बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है! इसमें भाष्यकी एक पंक्तिका अर्थ देते हुए जब एक ओर यह बतलाया गया है कि 'काय' शब्द का ग्रहण कालद्रव्यका निषेध करनेके लिये किया गया है—जो कि छठी समीक्षा में दिये हुए इस कथनके विरुद्ध है कि 'कहीं भी कालका खण्डन नहीं किया"—तब दूसरी ओर यह कहा गया है कि "उमास्वाति कालको स्वीकार करते हैं" और उसके लिये "अन्यथा उसका निषेध कैसा?" इस नई युक्तिका आविष्कार किया गया है!! जिसके द्वारा प्रो० साहब शायद यह सुझाना चाहते हैं कि जिसका कोई निषेध करता है वह वास्तव में

उसको स्वीकार करता है—और इसलिये जो जिस का निषेध (खण्डन) नहीं करता वह वास्तव में उसका खण्डन (अस्वीकार) किया करता है !! अनेकान्तके पाठकों को इस से पहले शायद ऐसी नई युक्तिके आविष्कार का अनुभव न हुआ हो! परन्तु खेद है कि प्रो० साहब अपने लेख में सर्वत्र इस नवाविष्कृत युक्ति एवं सिद्धान्त पर अमल करते हुए मालूम नहीं होते! और इसलिये इसके लिखने अथवा निर्माण में जरूर कुछ भूल हुई जान पड़ती है। इसी तरह एक स्थान पर आप लिखते हैं कि 'काय' शब्द का ग्रहण प्रदेशबहुत्व बताने के लिये ··किया गया है" और फिर उसके अनन्तर ही यह लिखते हैं कि "कालद्रव्य बहुप्रदेशी होने से कायवान् नहीं।" ये दोनों बातें भी परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि सूत्र में 'काय' शब्द का प्रयोग प्रदेशबहुत्व को बताने के लिये हुआ है और काल द्रव्यको प्रो० साहब बहुप्रदेशी लिखते हैं तब वह कायवान् क्यों नहीं? और यदि वह कायवान् नहीं है तो फिर उसे 'बहुप्रदेशी' क्यों लिखा गया? यहां जरूर कुछ गलती हुई जान पड़ती है। मैं चाहता था कि इस ग़लतीको सुधार दूं परन्तु मजबूर था; क्योंकि प्रो० साहब का भारी अनुरोध था कि उनका यह लेख बिना किसी संशोधनादिके ज्यों का त्यों छापा जाय। इसीसे मैंने लेख में 'बहुप्रदेशी होने से' के आगे ब्रैकट में प्रश्नाङ्क लगा दिया था, जिससे यह गलती प्रेस की न समझली जाय। अस्तु।

अब देखना यह है कि प्रो० साहबने शंका उठाकर उसका जो समाधान किया है वह कहांतक ठीक है। शंकामें भाष्यकी जो पंक्ति कुछ गलत अथवा संस्कारित रूपमें उद्धृत कीगई है वह 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस तृतीय सूत्रमें आए हुए 'अवस्थितानि' पदके भाष्यकी है। इससे पहले 'द्रव्याणि जीवाश्च' इस द्वितीय सूत्रके भाष्यमें लिखा है "एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंचद्रव्याणि च भवन्तीति"। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल ये चार तो अजीवकाय (अजीवास्तिकाय) और पांचवे जीव (जीवास्तिकाय) मिलाकर 'पांचद्रव्य' होते हैं—पांचकी संख्याको लिये हुए ध्रौव्यत्वका विषयरूप द्रव्य होते हैं। यहां द्रव्य होते हैं, अस्तिकाय होते हैं अथवा पंचास्तिकाय होते हैं ऐसा कुछ न कहकर जो खास तौरसे 'पंचद्रव्य होते हैं' ऐसा कहागया है उसका कारण द्रव्योंकी इयत्ता बतलाना—उनकी संख्याका स्पष्टरूप में निर्देश करना है। इसकी पुष्टि अगले सूत्रके अवस्थितानि पदके भाष्यमें यह कहकर कीगई है कि "न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" अर्थात् ये द्रव्य कभी भी पांचकी संख्याका और भूतार्थता (स्वतत्व) का अतिक्रम नहीं करते—सदाकाल अपने स्वतत्व तथा पांचकी संख्यामें अवस्थित रहते हैं। इसका स्पष्ट आशय यह है कि न तो इनमें से कोई द्रव्य कभी द्रव्यत्वसे च्युत होकर कम होसकता है और न कोई दूसरा पदार्थ इनमें शामिल होकर द्रव्य बनसकता तथा द्रव्योंकी संख्याको बढासकता है। और इसलिये भाष्यकार का अभिप्राय यहां अस्तिकायों की संख्यासे न होकर द्रव्योंकी संख्या से ही है। इसीसे सिद्धसेन गणिने भी अपनी टीकामें द्रव्य के नवादि भेदोंकी आलोचना करतेहुए लिखा है—"कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते वाचकमुख्यस्य पंचैवेति", अर्थात् काल किसीके मतसे द्रव्य है ऐसा कहा जायगा परन्तु उमास्वाति वाचक के

मतसे नहीं, वेतो पांच ही द्रव्य मानते हैं। साथ ही, आगे चलकर यह भी बतलाया हैं कि 'द्रव्याणि' पद द्रव्यास्तिक (द्रव्यार्थिक) नयके अभिप्राय को लिये हुए है पर्यायसमाश्रयण की दृष्टिसे नहीं है, द्रव्यास्तिक नयको ध्रौव्य इष्ट होताहै, उत्पाद विनाश नहीं। नित्यता के होनेपर इन द्रव्योंकी इयत्ताका निर्धारण अवस्थित शब्दके उपादानसे होताहै। चूंकि जगत सदाकाल पंचास्तिकायात्मक है और काल इन पंचास्तिकायों की पर्याय है, इसलिए द्रव्य पांच ही होतेहैं—कमती बढती नहीं, इसी संख्यानियमके अभिप्रायको 'अवस्थित' शब्द लिये हुए है। यथा:—"द्रव्याणीति द्रव्यास्तिनयाभिप्रायेण, न तु पर्नायसमाश्रयणात्, द्रव्यास्तिको हि ध्रौव्यमेवेच्छति, नोत्पादविनाशौ, ...न कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति, तद्भावाव्ययतायां सत्यामियत्तेषां निर्धार्यतेऽवस्थित शब्दोपादानात्, पञ्चैव भवन्त्येतानि न न्यूनान्यधिकानि वेति संख्यानियमोऽभिप्रेतः सर्वदा पंचास्तिकायात्मकत्वाज्जगतः कालस्य चेतत्पर्यायत्वादिति"।

ऐसी हालत में प्रो०साहब ने शंका का जो समाधान किया है वह भाष्यकारके आशय के साथ संगत न होने के कारण ठीक नहीं है।

(८) समीक्षा—"कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हमारे उक्त कथनका समर्थन स्वयं अकलंककी राजवार्तिकमें किया गया है। वे लिखते हैं—वृत्तौ पंचत्ववचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघात इति चेन्न अभिप्रायापरिज्ञानात् (वार्तिक)—स्यान्मतं वृत्तावमुक्त (वुक्त ?)मवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति (ये अक्षरशः भाष्यकी पंक्तियां हैं) इति ततः षड्द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति। तन्न, किं कारणं? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृतिकरणस्य-कालश्चेति पृथग्द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनपेक्षादिकृतानि पंचैव द्रव्याणि इति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः"। अर्थात् वृत्ति में जो द्रव्यपंचत्त्वका उल्लेख है वह कालद्रव्य की अनपेक्षासे ही है। कालका लक्षण आगे चलकर अलग कहा जायगा"।

परीक्षा—राजावार्तिक में 'वृत्ति'के नामोल्लेखपूर्वक जो पंक्तियां उद्धृत की गई हैं और जिन्हें प्रो०साहबने "अक्षरशः भाष्यकी पंक्तियां" बतलाया है वे अक्षरशः भाष्य की पंक्तियां नहीं हैं। प्रस्तुत भाष्य में उनका रूप है—"अवस्थितानि च, न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति" इसमें 'धर्मादीनि' पदकातोअभावहै और 'च' तथा 'भूतार्थत्वं' पद अधिक हैं। इतने पर भी प्रो०साहब दोनों को अक्षरशः एक बतलाने का साहस करते हैं, यह आश्चर्य तथा खेद की बात है !! वृत्ति और भाष्यके अवतरणों के इस अन्तर पर से तथा वृत्तिमें आगे 'कालश्च' इस सूत्रका उल्लेख होनेसे तो यह स्पष्ट जाना जाता है कि राजवार्तिक में जिस वृत्तिका अवतरण दियागया है वह प्रस्तुत भाष्य न होकर कोई जुदी ही वृत्ति है, जिसमें आगे चलकर मूलसूत्र "कालश्च" दिया है न कि 'कालश्चेत्येके'। मूलसूत्रका दिगम्बरसम्मत 'कालश्च' रूप होनेकी हालतमें जब आगे वृत्तिमें उसके द्वारा कालका स्वतंत्र द्रव्यके रूपमें उल्लेख है तब तीसरे सूत्रकी व्याख्या में 'पंचत्व' के वचन-प्रयोग से वृत्तिकारका वह अभिप्राय होसकता है जिसे अकलंकदेवने अपने राजावार्तिकमें व्यक्त किया है—'कालश्चेत्येके' ऐसा सूत्र होनेकी हालत में नहीं होसकता। अतः सातवीं समीक्षा में दिये हुए प्रो०-

साहबके कथन का राजवार्तिक की उक्त पंक्तियों से कोई समर्थन नहीं होता।

९ समीक्षा—"सिद्धसेन गणिने उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है, उसमें भी अकलंकके उक्त कथनका ही समर्थन किया गया है। सिद्धसेन लिखते हैं—"सत्यजीवत्वे कालः कस्मान्न निर्दिष्टः इति चेत् उच्यते—सत्वेकीयमतेन द्रव्यमित्याख्यास्यते द्रव्यलक्षणप्रस्ताव एव। अमी पुनरस्तिकायाः व्याचिख्यासिताः। न च कालोऽस्तिकायः, एकसमयत्वात्"—अर्थात् यहां केवल पांच अस्तिकायोंका कथन किया गया है। अजीव होने पर भी यहां कालका उल्लेख इसलिये नहीं किया गया कि वह एक समय वाला है उसका कथन 'कालश्चेत्येके' सूत्रमें किया जायगा।"

९ परीक्षा—सिद्धसेन गणिकी वृत्तिके उक्त कथनसे अकलङ्कदेवके उस कथनका कोई समर्थन नहीं होता जो ८वीं समीक्षामें उद्धृत है। अकलङ्क के कथनकी दिशा दूसरी और सिद्धसेन के कथन की दिशा दूसरी है। सिद्धसेन की उक्त वृत्ति "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" सूत्रकी न होकर प्रथम सूत्र "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" की है, और उसमें सिर्फ यह शङ्का उठाकर कि 'अजीव होने पर भी' कालका इस सूत्रमें निर्देश क्यों नहीं किया गया? सिर्फ इतना ही समाधान किया गया है कि "काल तो किसी के मत से (उमास्वातिके मतसे नहीं) द्रव्य है*, जिसका कथन आगे द्रव्यलक्षण-प्रस्तावमें किया जायगा। यहां तो इन अस्तिकायोंका कथन किया गया है। काल 'अस्तिकाय' नहीं है; क्योंकि वह एकसमयवाला है। ऐसी हालत में सिद्धसेन के इस कथनसे अकलङ्कदेवके उक्त कथनका कोई समर्थन नहीं होता। और जब राजवार्तिकके कथनका ही समर्थन नहीं होता, जिसे प्रोफेसर साहब ने अपने कथन के समर्थनमें पेश किया है, तब फिर प्रोफेसर साहबके उस कथन का समर्थन तो कैसे हो सकता है जिसे आपने ८वीं समीक्षामें उपस्थित किया है? खासकर ऐसी हालतमें जबकि परीक्षा नं० ८ के अनुसार अकलङ्क के कथन से भी उसका समर्थन नहीं होसका।

१० समीक्षा— "स्वयं भाष्यकारने "तत्कृतः कालविभागः" सूत्रकी व्याख्यामें "कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षण इत्युक्तम्" आदिरूपसे कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इतना ही नहीं मुख्तार साहबको शायद अत्यन्त आश्चर्य हो कि भाष्यकारने स्पष्ट लिखा है—"सर्वं पञ्चत्वं अस्तिकायावरोधात्। सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्"। वृत्तिकार सिद्धसेनने इन पंक्तियोंका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"तदेव पञ्चस्वभावं षट्स्वभावं षड्द्रव्यसमन्वितत्त्वात्। तदाह—सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्। षड्द्रव्याणि कथं, उच्यते—पञ्च धर्मादीनि कालश्चेत्येके"। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि उमास्वाति छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है। पांच अस्तिकायोंके प्रसंग पर कालका कथन इसीलिये नहीं किया गया कि काल कायवान नहीं। अतएव अकलङ्क ने षड्द्रव्य वाले जिस भाष्यकी ओर संकेत किया है, वह उमास्वातिका प्रस्तुत तत्वार्थाधिगम भाष्य ही है।

---

* समाधानके इस प्रधान अंशको प्रोफेसर साहब ने अपने उस अनुवाद अथवा भावार्थमें व्यक्त ही नहीं किया जिसे आपने 'अर्थात्' शब्दके साथ दिया है।

इस भाष्यका सूचन अकलङ्क ने "वृत्ति" शब्दसे किया है।"

१० परीक्षा—भाष्यकार ने "इत्युक्तम्" पदके साथ जिस वाक्यको उद्धृत किया है वह भाष्यमें इससे पहले उक्त न होनेके कारण किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थसे उद्धृत जान पड़ता है, और उसके उद्धृत करने का लक्ष्य उस व्यवहार कालको बतलाने के सिवा और कुछ मालूम नहीं होता जिसको लक्ष्य करके ही "तत्कृतः कालविभागः" यह सूत्र कहा गया है। इसीसे उक्त वाक्यके अनन्तर लिखा है—"तस्य विभागो ज्योतिषाणां गतिविशेषकृतश्चारविशेषेण हेतुना" और सूत्रके भाष्यकी समाप्ति करते हुए लिखा है—"एवमादिर्मनुष्यक्षेत्रे पर्यायापन्नः कालविभागो ज्ञेय इति।" इससे यहां मुख्य (परमार्थ) काल अथवा द्रव्यदृष्टिसे कालके विधानका कोई अभिप्राय नहीं है, और इस लिये इस उल्लेख परसे प्रोफेसर साहबका अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता।

अब रही आपके दूसरे उल्लेखकी बात, मुझे तो उसे देखकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उसमें भाष्यकार-द्वारा विधान रूपसे "षड्द्रव्याणि" ऐसा कहीं भी नहीं लिखा गया है। भाष्यके उस अंश में उल्लेखित वाक्योंकी जो दृष्टि है उसे अच्छी तरह समझनेके लिये उसके पूर्वांश और पश्चिमांश दोनोंको सामने रखनेकी जरूरत है। अतः उन्हें नीचे उद्धृत किया जाता है—

(पूर्वांश) "अत्राह—एवमिदानीमेकस्मिन्नऽर्थेऽध्यवसायनानात्वान्ननु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग इति। अत्रोच्यते—यथा सर्वं एकंसदविशेषात्। सर्वं द्वित्वं जीवाजीवात्मकत्वात्। सर्वं त्रित्वं द्रव्यगुणपर्यायावरोधात। सर्वं चतुष्टयं चतुर्दर्शनविषयावरोधात।"

(पश्चिमांश) "यथैता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि तद्वन्नयवादा इति।"

यहां पर नयवादका प्रसंग है—नैगमादि नयोंका विषय परस्पर विरुद्ध नहीं है—एक वस्तुमें सामान्य-विशेषादि धर्म परस्पर अविरोध रूपसे रहते हैं—इस बातको स्पष्ट किया गया है। किसीने प्रश्न किया कि जब एक पदार्थको आप नाना अध्यवसायों (विज्ञनभेदों) का विषय मानते हैं तो इससे तो विप्रतिपत्ति (विरुद्धप्रतीति) का प्रसंग आता है। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि—जैसे संपूर्ण जगत सत्की अपेक्षा—सत्की दृष्टि से अवलोकन करने वालों की अपेक्षा—एक रूप है, वही जीव अजीवकी अपेक्षासे दो रूप है, द्रव्य-गुण-पर्यायकी अपेक्षा तीन रूप है, चक्षु-अचक्षु आदि चारदर्शनोंका विषय होनेकी अपेक्षासे चार रूप है, पंचास्तिकायकी अपेक्षासे पांचरूप है और षड्द्रव्यों की अपेक्षा—षट् द्रव्यों की दृष्टिसे अवलोकन करने वालों की अपेक्षा—षड्द्रव्यरूप है। इस प्रकार एक जगत् वस्तु में उपादीयमान ये एक-दो-तीन-चार-पांच-छह रूपात्मक अवस्थाएँ जैसे विरुद्ध प्रतीति को प्राप्त नहीं होतीं—ये अध्यवसाय के स्थानान्तर हैं, वैसे ही अध्यवसायकृत नयवाद परस्पर विरोध को लिए हुए नहीं हैं। षट्द्रव्य किस दृष्टि से यहां विवक्षित हैं इसबातको सिद्धसेन ने ही अपनी उस वृति में स्पष्ट कर दिया है जिसे प्रो० साहब ने उदधृत किया है। वे कहते हैं पांच तो 'धर्मादिक' और छठा 'कालश्चेत्येके' सूत्रका विषय 'काल'। इससे भाष्यकार की मान्यता के सम्बन्धमें कोई नया विशेष उत्पन्न नहीं होता जिसका विचार ऊपर की परीक्षाओं

में न किया जाचुका हो। सिद्धसेन गणि जो यह कहते हैं कि काल किसी के मतसे द्रव्य है परन्तु उमास्वाति वाचक के मत से नहीं, वे तो पांच ही द्रव्य मानते हैं उसका उनके ऊपर के स्पष्टीकरण से कोई विरोध नहीं आता—वे उसके द्वारा अब यह नहीं कहना चाहते कि भाष्यकार उमास्वाति छह द्रव्य मानते हैं अथवा छह द्रव्यों का विधान करते हैं। भाष्यकार ने यहां आगमकथित दूसरी मान्यता अथवा दूसरों के अध्यवसायकी दृष्टि से ही 'षड्द्रव्य' का उल्लेखमात्र किया है। ऐसी हालत में यह कहना कि "उमास्वाति (श्वे० सूत्रपाठ तथा भाष्यके तथाकथित रचयिता) छह द्रव्योंको मानते हैं। छह द्रव्योंका स्पष्ट कथन उन्होंने भाष्यमें किया है" कुछ भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। फिर यह नतीजा तो उससे कैसे निकाला जासकता है कि—"अकलंकने षडद्रव्य वाले जिस भाष्य की ओर संकेत किया है वह उमास्वाति का प्रस्तुत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ही है" ? क्यों कि एकमात्र "षड्द्रव्यावरोधात्" पद अकलंक के "यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं" इस वाक्य में आए हुए "बहुकृत्वः षड् द्रव्याणि" पदों का वाच्य नहीं हो सकता। अकलंक के ये पद भाष्य में कमसे कम तीन वार 'षड्द्रव्याणि" जैसे पदों के उल्लेख को मांगते हैं। और न यही नतीजा निकाला जासकता है कि 'इस (प्रस्तुत) भाष्य का सूचन अकलंक ने 'वृत्ति' शब्द से किया है। वृत्ति का अभिप्राय किसी दूसरी प्राचीनवृत्ति अथवा उस टीका से भी हो सकता है जो स्वामी समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि आचार्य-द्वारा लिखी गई थी और जिसका स्पष्ट उल्लेख श्रवणबेल्गोल के निम्न शिलावाक्य में पाया जाता है, जो वहां उक्त टीका की प्रशस्ति पर से उद्धृत जान पड़ता है—

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥
(शि० नं० १०५)

इस तरह मेरी उक्त 'विचारणा' पर जो समीक्षा लिखी गई है उसमें कुछ भी सार नहीं है, और इसलिये उससे प्रोफेसर साहब का वह अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता जिसे वे सिद्ध करना चाहते हैं—अर्थात् यह नहीं कहा जासकता कि अकलंक के सामने उमास्वाति का श्वेताम्बर-सम्मत भाष्य अपने वर्तमान रूप में उपस्थित था और अकलंक ने उसका अपने वार्तिक में उपयोग तथा उल्लेख किया है; बल्कि यह स्पष्ट मालूम होता है कि अकलंकके सामने उनके उल्लेखका विषय कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था, और वह उन्हीं का अपना 'राजवर्तिक-भाष्य' भी हो सकता है। क्योंकि उसमें इससे पहले अनेकवार 'षण्णामपि द्रव्याणां, षडत्र द्रव्याणि' षडद्रव्योपदेशः' इत्यादि रूप से छह द्रव्यों का उल्लेख आया है, और स्वकीय भाष्य की बातको लेकर सूत्र पर शंका उठाने की प्रवृत्ति अयत्र भी देखी जाती है, जिस का एक उदाहरण 'स्वभावमार्दवं च' सूत्र के भाष्यका निम्न वाक्य है—"ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं पुनर्ग्रहणमनर्थकं सूत्रेऽनुपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते।" इससे पूर्व के, "अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य" सूत्र की व्याख्या में 'मार्दव' आचुका था, इसी से शंका को वहां स्थान मिला है। अस्तु।

यह तो हुई प्रो० साहब के पूर्व लेख के नम्बर ४ की बात, जो तीन उपभागों (क, ख, ग)

में बँटा था और आपकी युक्तियों में सर्वप्रधान था; अब लेख के शेष तीन नम्बरों अथवा भागों को भी लीजिये, जिनका परिचय इस लेखके शुरू में—परीक्षारम्भ के पूर्व-विचारणा के लक्ष्यको व्यक्त करते हुए, दिया जा चुका है। नं० १ में तत्त्वार्थसूत्रों के कुछ पाठभेद का राजवार्तिक में उल्लेख बता कर यह नतीजा निकाला गया था कि 'अकलंक के सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ अवश्य था जिसे अकलंक ने स्वीकार नहीं किया' इस बात को अङ्गीकार करते हुए मैंने अपनी 'विचारणा' में लिखा था—

"इसमें सन्देह नहीं कि अकलंकदेव के सामने तत्वार्थसूत्र का कोई दूसरा सूत्रपाठ जरूर था, जिसकेकुछ पाठोंको उन्होंनेस्वीकृत नहीं किया। इससे अधिक और कुछ उन अवतरणों परसे उपलब्ध नहीं होता जो लेखके नं० १ में उद्धृत किये गये हैं। अर्थात् यह निर्विवाद एवं निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि अकलंकदेव के सामने यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था। यदि यही तत्त्वार्थभाष्य मौजूद होता तो उक्त नं० १ के 'घ' भागमें जिन दो सूत्रोंका एक योगीकरण करके रूप दिया है उनमें से दूसरा सूत्र 'स्वभावमार्दवं च' के स्थान पर 'स्वभावमार्दवार्जवं च' होता और दोनों सूत्रोंके एक योगीकरणका वह रूप भी तब 'अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्येति' दिया जाता; परन्तु ऐसा नहीं है।"

इसके अलावा अकलंक से पहले तत्वार्थसूत्र के अनेक सूत्रपाठों के प्रचलित होने और उनपर अनेक छोटी-बड़ी टीकाओं के लिख जाने की बात को स्पष्ट करते हुए मैंने अपनी 'विचारणा' में यह भी लिखा था कि—

"यहां पर एक बात और भी जान लेने की है और वह यह है कि श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि में, प्रथम अध्यायके १६ वें सूत्र की व्याख्या में, "क्षिप्रानिःसृत' के स्थानपर 'क्षिप्रनिःसृत' पाठभेदका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते।"

जिस पाठभेद का यहां "अपरेषां" पदके प्रयोगके साथ उल्लेख किया गया है वह 'स्वोपज्ञ' कहे जाने वाले उक्त तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है, और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पूज्यपादके सामने दूसरोंका कोई ऐसा सूत्रपाठ भी मौजूद था जो वर्तमान एवं प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य के सूत्रपाठ से भिन्न था। ऐसा ही कोई दूसरा सूत्रपाठ अकलंकदेव के सामने उपस्थित जान पड़ता है, जिसमें "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" ऐसा सूत्रपाठ होगा—'स्वभावमार्दवं' की जगह 'स्वभावमार्दवार्जवं च' नहीं। इसी तरह "बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ" सूत्रपाठ भी होगा, जिसके "समाधिकौ" पदकी आलोचना करते हुए और उसे 'आर्षविरोधि वचन' होनेसे विद्वानों केद्वारा अग्राह्य बतलाते हुए "अपरेषां पाठः" लिखा है— यह प्रकट किया है कि दूसरे ऐसा सूत्रपाठ मानते हैं। यहां "अपरेषां" पदका वैसा ही प्रयोग है जैसा कि पूज्यपाद आचार्यने ऊपर उद्धृत किये हुए पाठभेद के साथ में किया है। परन्तु इस 'समाधिकौ' पाठभेद का सर्वार्थसिद्धिमें कोई उल्लेख नहीं, और इससे ऐसा ध्वनित होता है

कि सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादके सामने प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्य अथवा तत्त्वार्थभाष्यका शेष वर्तमानरूप उपस्थित नहीं था, जिसका 'स्वोपज्ञ भाष्य' होनेकी हालतमें उपस्थित होना बहुत कुछ स्वाभाविक था, और न वह सूत्रपाठ ही उपस्थित था जो अकलंकके सामने मौजूद था और जिसके उक्त सूत्रपाठको वे 'आर्षविरोधी' तक लिखते हैं, अन्यथा यह संभव मालूम नहीं होता कि जो आचार्य एकमात्रा तर्कके साधारण पाठभेदका तो उल्लेख करें वे ऐसे वादापन्न पाठभेदको बिल्कुल ही छोड़ जावें।

सिद्धसेन गणीकी टीकामें अनेक ऐसे सूत्रपाठोंका उल्लेख मिलता है जो न तो प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यमें पाये जाते हैं और न वर्तमान दिगम्बरीय अथवा सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठोंमें ही उपलब्ध होते हैं। उदाहरणके लिये "कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि" सूत्रको लीजिये, सिद्धसेन लिखते हैं कि इस सूत्रमें प्रयुक्त हुए 'मनुष्यादीनाम्' पदको दूसरे (अपरे) लोग 'अनार्ष' बतलाते हैं और साथ ही यह भी लिखते हैं कि कुछ अन्य जन जो 'मनुष्यादीनाम्' पदको तो स्वीकार करते हैं वे इस सूत्रके अनन्तर "अतीन्द्रियाः केवलिनः" यह एक नया ही सूत्रपाठ रखते हैं ❀। यह सब कथन वर्तमानके दिगम्बर श्वेताम्बर सूत्रपाठोंके साथ सम्बद्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रपाठ प्रचलित थे और वे अनेक आचार्य परम्पराओंसे सम्बन्ध रखते थे। छोटी बड़ी टीकाएँ भी तत्त्वार्थसूत्र पर कितनी ही लिखी गई थीं, जिनमेंसे बहुतसी लुप्त हो चुकी हैं और वे अनेक सूत्रोंके पाठभेदोंको लिये हुए थीं।

ऐसी हालतमें लेखके नं० ३ में प्रोफेसरसाहब ने उक्त शंकाका † निरसन होना बतलाते हुए, जो यह नतीजा निकाला है कि "अकलंकके सामने कोई दूसरा सूत्रपाठ नहीं था, बल्कि उनके सामने स्वयं तत्त्वार्थभाष्य मौजूद था" वह समुचित प्रतीत नहीं होता।"

इस सब 'विचारणा'की समीक्षा में प्रोफेसर साहब सिर्फ इतना ही लिखते हैं:—

११ समीक्षा—"इसी तरह सूत्रोंके पाठभेद की बात है।" 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ,' 'द्रव्याणि जीवाश्च' आदि सूत्र भाष्यमें त्यों की त्यों मिलती हैं। उक्त विवेचनकी रोशनीमें कहा जा सकता है कि अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था।

'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं' आदि सूत्रके विषयमें सम्भवतः कुछ मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धि हो। शायद वही पाठ मूल प्रतिमें हो और मुद्रितमें छूट गया हो। इसके अतिरिक्त यहाँ मुख्य प्रश्न तो एक योगीकरणका है जो भाष्यमें बराबर मिल जाता है।"

❀ "अपरेऽतिविसंस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विषण्णाः सन्तः सूत्रे मनुष्यादिग्रहणमनार्षमिति संगिरन्ते"। इदमन्तरालमुपजीव्यापरे वातकिनः स्वयमुपरभ्य सूत्रमधीयते—'अतीन्द्रियाः केवलिनः' येषां मनुष्यादीनां ग्रहणमस्ति सूत्रेऽनन्तरे त एवमाहुः—मनुष्यग्रहणात् केवलिनोऽपि पंचेन्द्रियप्रसक्तेः अतस्तदपवादार्थमतीत्येन्द्रियाणि केवलिनो वर्तन्त इत्याख्येयम्।"

† यह शंका वही है जिसे प्रो० साहबने खुद ही सूत्रपाठभेदोंके अपने नतीजे पर उठाया था और जिसे प्रो० साहबके पूर्व लेखका परिचय देते हुए नं० २ में दिखलाया जा चुका है।

११ परीक्षा—उक्त विस्तृत विचारणाकी यह समीक्षा भी क्या कोई समीक्षा कहला सकती है ? इसे तो सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यहां पर मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि जब श्री पूज्यपाद, अकलंक और सिद्धसेनके सामने दूसरे कुछ विभिन्न सूत्रपाठोंका होना पाया जाता है तथा "त एवं वर्णयन्ति", "मनुष्यादिग्रहणमनार्षमितिसंगिरन्ते" जैसे वाक्योंके द्वारा उन पर दूसरी टीकाओंके रचे जानेका भी स्पष्ट आभास मिलता है और इस पर समीक्षामें कोई आपत्ति नहीं की गई, तब अमुक सूत्रोंके प्रस्तुत भाष्यमें मिलने मात्र से, जिसमें एक योगीकरणकी बात भी आजाती है, यह कैसे कहा जा सकता है कि "अकलंकका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था ?" क्या प्रो० साहबके पास इस बातकी कोई गारण्टी है कि अमुक सूत्र उन दूसरे सूत्रपाठोंमें नहीं थे ? यदि नहीं, तो फिर उनका यह नतीजा निकालना कि "अककलंका लक्ष्य इसी भाष्यके सूत्रपाठकी ओर था" कैसे संगत हो सकता है ? ऐसा कहनेका तब उन्हें कोई अधिकार नहीं। उनके इस कथन से तो ऐसा मालूम होता है कि शायद प्रो० साहब यह समझ रहे हैं कि सूत्रों परसे भाष्य नहीं बना किन्तु भाष्य परसे सूत्र निकले हैं और सूत्रपाठ भाष्यके साथ सदैव तथा सर्वत्र नत्थी रहता है ! यदि ऐसा है तो निःसन्देह ऐसी समझकी बलिहारी है !!

रही "अल्पारम्भपरिग्रहत्वं" आदि सूत्रकी मुद्रणसम्बन्धी अशुद्धिकी बात, यह कल्पना आपत्ति से बचनेके लिये बिल्कुल निरर्थक जान पड़ती है; क्योंकि दिगम्बर सूत्रपाठकी सैंकड़ों हस्तलिखित प्रतियोंमें 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य" और स्वभावमार्दवं च" येदोनों सूत्र अपने इसी रूपमें पाये जाते हैं, टीकाओंमें भी इनके इसी रूपका उल्लेख है और इनके योगीकरणका वह रूप नहीं बनता जो प्रस्तुत भाष्यमें उपलब्ध होता है। इसके सिवाय जब प्रो० साहबके पास भाण्डारकर इन्स्टिटयूटकी प्रतिके आधार पर लिये हुए राजवार्तिकके पाठान्तर हैं और पं० कैलाशचन्द्रजी की माफत बनारसका प्रतिके पाठों का भी आपने परिचय प्राप्त किया है तब कम से कम अपनी उन प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर ही आपको यह प्रकट करना चाहिये था कि उनमें उन दो[illegible] सूत्र के क योगीकरणका वही रूप दिया है जो प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्यमें पाया जाता है। ऐसा न करके 'संभवतः' और 'शायद' शब्दोंका सहारा लेते हुए उक्त कथन करना आपत्तिसे बचनेके लिये व्यर्थकी कल्पना करनेके सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। आपत्तिसे बचनेका यह कोई तरीका नहीं और न इसे समीक्षा ही कह सकते हैं।

प्रो० साहब के लेख के चौथे नम्बर के 'ख' भाग पर विचार करने के अनन्तर मैंने उनके लेख के नं० २ पर, जिसका परिचय भी शुरु में दिया जा चुका है, जो 'विचारणा' लिखी थी वह इस प्रकार है :—

"ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि अकलंक देव के सामने कोई दूसरा ही भाष्य मौजूद था। जब दूसरा ही भाष्य मौजूद था तब लेख के नं० २ में कुछ अवतरणों की तुलना पर से जो नतीजा निकाला गया अथवा सूचन किया गया है वह सम्यक् प्रतिभासित नहीं होता—उस दूसरे भाष्य

में भी उस प्रकारके पदोंका विन्यास अथवा वैसा कथन हो सकता है। अवतरणों में परस्पर कहीं कहीं प्रतिपाद्य-विषय-सम्बन्धी कुछ मतभेद भी पाया जाता है, जैसा नं० २ के 'क'-'ख' भागों को देखने से स्पष्ट जाना जाता है। ख-भाग में जब तत्त्वार्थभाष्य का सिंहों के लिये चार नरकों तक और उरगों (सर्पों) के लिए पाँच नरकों तक उत्पत्ति का विधान है, तब राजवार्तिक का उरगों के लिये चार नरकों तक और सिंहोंके लिये पाँच नरकों तक की उत्पत्ति का विधान है। यह मतभेद एक दूसरे के अनुकरण को सूचित नहीं करता, न पाठ-भेद की किसी अशुद्धि पर अवलम्बित है; बल्कि अपने अपने सम्प्रदायके सिद्धान्त-भेदको लिये हुए है। राजवार्तिक का नरकोंमें जीवोंके उत्पादादि सम्बन्धी कथन 'तिलोयपण्णत्ती' आदि प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थोंके आधार पर अवलम्बित है *।"

इसके उत्तरमें प्रो० साहबकी समीक्षाका रूप मात्र इतना ही है—

१२ समीक्षा—"हम अपने पहले लेखमें भाष्य, सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकके तुलनात्मक उद्धरण देकर यह बता चुके हैं कि अनेक स्थानों पर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं। इनमें से बहुतसी बातें सर्वार्थसिद्धिमें नहीं मिलतीं परन्तु वे राजवार्तिकमें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेर फार से दी हुई हैं।"

१२ परीक्षा—इस समीक्षामें 'विचारणा' पर क्या आपत्ति की गई है और अपने पूर्व लेख से अधिक क्या नई बात खोजकर रक्खी गई है? इसे पाठक सहज ही में समझ सकते हैं। यदि "अनेक स्थानोंपर भाष्य और राजवार्तिक अक्षरशः मिलते हैं" तो इसका यह अर्थ यह कैसे हो सकता है कि राजवार्तिक में वे सब बातें ज्योंकी त्यों अथवा मामूली फेर-फार के साथ भाष्य से उठा कर रखली गई हैं? खास कर ऐसी हालतमें जब कि अकलंक से पहले तत्वार्थसूत्र पर अनेक टीकाएँ बन चुकी थीं, कुछ उनके सामने मौजूद भी थीं और प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य को प्रो० साहब अभी तक स्वयं मूल सूत्रकार उमास्वाति आचार्य का बनाया हुआ 'स्वोपज्ञ भाष्य' सिद्ध नहीं कर सके हैं? दिगम्बर उसे 'स्वोपज्ञ' नहीं मानते और न इन पंक्तियों का लेखक ही मानता है, जिसकी 'विचारणा' की आप समीक्षा करने बैठे हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मेरी विचारणाके "उस दूसरे भाष्य में भी उस प्रकारके पदों का विन्यास अथवा वैसा कथन हो सकता है" इस वाक्य को लेकर प्रो० साहब ने अपने इस समीक्षा-लेख के शुरू में यहां तक लिखने का साहस किया है—

"मुख्तार साहबके प्रस्तुत तत्त्वार्थभाष्यके अकलंक के समक्ष न होनेमें जो प्रमाण हैं वे **केवल इसतर्क पर** अवलम्बित हैं कि इसी तरहके वाक्य-विन्यास और कथन वाला कोई दूसरा भाष्य रहा होगा, जो आजकल

---

* देखो जैनसिद्धान्तभास्करके **५वें** भागकी तीसरी किरणमें **प्रकाशित** 'तिलोयपण्णत्ती' का नरक विषयक **प्रकरण** (गाथा २८५, २८६ आदि), जिसमें वह विषय बहुत कुछ वर्णित है जो लेखीय नं०२ के अनेक भागोंमें उल्लेखित राजवार्तिकके वाक्योंमें पाया जाता है।

अनुलब्ध है। लेकिन यह तर्क सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता।"

मैंने इस प्रकारका कोई तर्क नहीं किया और न मेरे सारे प्रमाण **केवल इस तर्क पर** अवलम्बित हैं, यह बात मेरी (सम्पादकीय) 'विचारणा' से दिनकर प्रकाश की तरह स्पष्ट है। इतने पर भी प्रो० साहबका उक्त लिखना दूसरेके वाक्यका दुरुपयोग करना ही नहीं, बल्कि भारी ग़लत बयानीको लिये हुए है, और इसलिये बड़ा ही दुःसाहसका काम है। अपनी समीक्षाका रंग जमानेके लिए अपनाई गई यह नीति प्रोफेसर जैसे विद्वानोंको शोभा नहीं देती। इसी प्रकारका एक और वाक्य भी आपने मेरे नामसे अपने समीक्षालेखके शुरूमें दिया है, जो कुछ गलतसूचनाको लिये हुए है; और इसलिये ठीक नहीं है।

प्रोफेसरसाहबके लेखके तृतीय भाग (नं० ३) की, जिसका परिचय भी शुरूमें दिया जाचुका है, आलोचना करते हुए मैंने जो 'विचारणा' उपस्थित की थी वह इस प्रकार है:—

"इसी तरह भाष्यकी पंक्तिको उठाकर वार्तिक बनाने आदिकी जो बात कही गई है वह भी कुछ ठीक मालूम नहीं होती। अकलंकने अपने राजवार्तिकमें पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका प्रायः अनुसरण किया है। सर्वार्थसिद्धिमें पाँचवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"**कालो वक्ष्यते, तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणम्।**" इसी बात को व्यक्त करते हुए तथा कालके लिये उसके पर्याय नाम 'अद्धा' शब्दका प्रयोग करते हुए राजवार्तिक में एक वार्तिक "**अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**" दिया है और फिर इसकी व्याख्यामें लिखा है—"**अद्धाशब्दो निपातः कालवाची स वक्ष्यमाणलक्षणः तस्य प्रदेशप्रतिषेधार्थमिह कायग्रहणं क्रियते।**" इससे स्पष्ट है कि उक्त वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके शब्दों पर ही अपना आधार रखता है. और इसीलिये यह कहना कि भाष्यकी 'अद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' इस पंक्तिको उक्त वार्तिक बनाया गया है कुछ संगत मालूम नहीं होता। ऊपरके सम्पूर्ण विवेचनकी रोशनीमें वह और भी असंगत जान पड़ता है।

इस 'विचारणा' पर प्रो० साहबने अपनी समीक्षामें जो कुछ लिखा है वह सब इस प्रकार है—

१३ समीक्षा—**कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च**' भाष्यकी इस पंक्तिकी राजवार्तिकमें तीन वार्तिक बनाई गई हैं—'**अभ्यन्तरकृतेवार्थः कायशब्दः**'; '**तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं,**' '**अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च**'। कहना नहीं होगा कि वार्तिककी उक्त पंक्तियोंका साम्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्यमें अधिक है। दूसरा उदाहरण—'**नाणोः**'—सूत्रके भाष्यमें उमास्वातिने परमाणुका लक्षण बताते हुए लिखा है—'**अनादिरमध्यो हि परमाणुः**'। सर्वार्थसिद्धिकार यहाँ मौन हैं। परन्तु राजवार्तिकमें देखिये—आदिमध्यान्तव्यपदेशाभावादितिचेन्न विज्ञानवत् (वार्तिक) इसकी टीका लिखकर अकलंकने भाष्यके उक्त वाक्यका ही समर्थन किया है। इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।"

१३ परीक्षा—'विचारणा' में उपस्थित विचार का कोई उत्तर न देकर, यहाँ भाष्यकी जिस पंक्ति परसे जिन तीन वार्तिकोंके बनानेकी बात कही गई है वह समुचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि "**अभ्यन्तरकृतेवार्थः कायशब्दः**" इस वार्तिककी भाष्य की उक्त पंक्ति परसे जरा भी उपलब्धि नहीं होती;

प्रत्युत इसके, सर्वार्थसिद्धिमें "यथा शरीरं पुद्गलद्रव्य-प्रचयात्मकं तथा धर्मादिष्वपि प्रदेशप्रचयापेक्षया काया इव काया इति" इस वाक्यके द्वारा जो भाव व्यक्त किया गया है उसीको लेकर उक्त वार्तिक बना है। दूसरा वार्तिक सर्वार्थसिद्धिके "किमर्थः कायशब्दः? प्रदेश-बहुत्वज्ञापनार्थः" इन शब्दों परसे बना है, और तीसरा वार्तिक सर्वार्थसिद्धि परसे कैसे बना, यह बात ऊपर उद्धृत 'विचारणा' में दिखलाई ही जा चुकी है। ऐसी हालतमें उक्त तीनों वार्तिकोंका सब से अच्छा बुद्धिगम्य आधार सर्वार्थसिद्धि हो सकती है न कि भाष्यकी उक्त पंक्ति। राजवार्तिक की तीन पंक्तियोंमेंसे जब एक पंक्ति ही भाष्य परसे उपलब्ध नहीं होती तब भाष्यके साथ उसका अधिक साम्य कैसे हो सकता है? और कैसे उक्त पंक्ति परसे तीन वार्तिकोंके बननेकी बात कही जा सकती है? हाँ, समीक्षा-लेखकी समाप्ति करते हुए प्रो० साहबने यह भी एक घोषणा की है कि—"समानता सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें भी है। परन्तु यहां भाष्य और राजवार्तिककी उन समानताओंसे हमारा अभिप्राय है जिनकी चर्चा तक सर्वार्थसिद्धिमें नहीं।" इस परसे हर कोई प्रो० साहबसे पूछ सकता है कि भाष्यकी पंक्ति परसे जिन तीन वार्तिकोंके बनाये जानेकी बात कही गई है उनके विषयकी चर्चा क्या सर्वार्थसिद्धिमें नहीं है? यदि है तो फिर उक्त घोषणा अथवा विज्ञप्ति कैसी?

अब रही परमाणु के लक्षण की बात, भाष्य पर से जो लक्षण उद्धृत किया गया है वह भाष्य में उस रूपमें नहीं पाया जाता। भाष्यके अनुसार उसका रूप है—'अनादिरमध्योऽप्रदेशो हि परमाणुः'। नहीं मालूम प्रो० साहबने 'अप्रदेशः' पद का परित्यागकर अधूरा लक्षण क्यों उद्धृत किया? प्रदेशों के कथनका तो खास प्रसंग ही चल रहा था और परमाणुके उनका निषेध करने के लिये ही 'नाणोः' सूत्र का अवतार हुआ था, उसी प्रदेश-निषेधात्मक पद को यहाँ छोड़ दिया गया, यह आश्चर्य की बात है! अस्तु; सर्वार्थसिद्धि में प्रकरणानुसार "अणोः प्रदेशा न सन्ति" इस वाक्य के द्वारा परमाणु के प्रदेशों का ही निषेध किया है, बाकी परमाणुओं का लक्षण अथवा स्वरूप "अणवः स्कन्धाश्च" सूत्र की व्याख्यामें दिया है, जो इस प्रकार है "सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च"। साथ ही, इस की पुष्टि में 'उक्तं च' रूपसे "अत्तादि अत्तमज्झं" नाम की एक गाथा भी उद्धृत की है, जो श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'नियमसार' की २६वीं गाथा है। अकलंक ने भी गाथा-सहित यह सब लक्षण इसी सूत्र की व्याख्या में दिया है। 'नाणोः' सूत्र की व्याख्या में परमाणु का कोई लक्षण नहीं दिया। प्रो० साहब ने जो वार्तिक उद्धृत किया है वह और उसका भाष्य इस शंका का समाधान करने के लिये अवतरित हुए हैं कि परमाणु के आदि-मध्य और अन्तका व्यपदेश होता है याकि नहीं? यदि होता है तो वह प्रदेशवान् ठहरेगा और नहीं होता है तो खर विषाण की तरह उसके अभाव का प्रसंग आएगा? ऐसी हालत में यह समझना कि सर्वार्थसिद्धिकार ने परमाणु का लक्षण नहीं दिया अथवा वे इस विषय में मौन रहे हैं और अकलंक ने उक्त भाष्य का अनुसरण किया है, नितान्त भ्रममूलक जान पड़ता है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ प्रो० साहबके समीक्षा लेखकी अब ऐसी कोई खास बात अवशिष्ट नहीं रही जो आलोचना के योग्य हो और जिसकी आलोचना एवं परीक्षा न की जा चुकी हो। अत: मैं विराम लेता हुआ उपसंहाररूप में अब सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि ऊपरके इस संपूर्ण विवेचन एवं परीक्षण परसे जहाँ यह स्पष्ट है कि मेरी 'सम्पादकीय विचारणा' में प्रो० साहबके पूर्व लेखकी कोई खास बात विचारसे छूटी नहीं थी अथवा छोड़ी नहीं गई थी---उनके लेखके चारों भागोंके सभी मुद्दों पर यथेष्ट विचार किया गया था---और इसलिये अपने समीक्षा-लेखके शुरूमें उनका यह लिखना कि "इसी युक्ति (प्रस्तुत भाष्यमें षट् द्रव्योंका विधान न मिलने मात्रकी बात) के आधार पर मुख्तारसाहबने मेरे दूसरे मुद्दोंको भी असंगत ठहरा दिया है---उन पर विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं समझी" सरासर ग़लत बयानीको लिये हुए है, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्रो० साहबकी इस समीक्षामें कुछ भी--रत्ती भर भी सार नहीं है, गहरे विचारके साथ उसका कोई सम्बाध नहीं, वह एकदम निष्प्राण-बेजान और समीक्षा-पदके अयोग्य समीक्षाभास है। इसीसे 'सम्पादकीय-विचारणा'को सदोष ठहरानेमें वह सर्वथा असमर्थ रही है। और इसलिये उसके द्वारा प्रो० साहबका वह अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता जिसे वे सिद्ध करके दूसरे विद्वानोंके गले उतारना चाहते थे—

अर्थात् (१) तत्वार्थ सूत्रका प्रस्तुत श्वेताम्बरीय भाष्य अपने वर्तमानरूपमें अकलंकके सामने मौजूद था अकलंकदेव उससे अच्छी तरह परिचित थे, (२) अकलंकने अपने राजवार्तिकमें उसका यथास्थान उपयोग किया है, (३) अकलंकने 'अर्हत्प्रवचने', 'भाष्ये' और 'भाष्यं' जैसे पदोंके प्रयोगद्वारा उस भाष्यके अस्तित्वका स्पष्ट उल्लेख किया है, (४) अकलंक उसे 'स्वोपज्ञ' स्वीकार करते थे—तत्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्ताको एक मानते थे, और (५) अकलंकने उसके प्रति बहुमानका भी प्रदर्शन किया है, इनमेंसे कोई भी बात सिद्ध नहीं होती। साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि प्रो० साहबकी लेखनी बहुत ही असावधान है--वह विषयका कुछ गहरा विचार करके नहीं लिखती, इतना ही नहीं, किन्तु दूसरोंके कथनोंको ग़लत रूपमें विचारके लिये प्रस्तुत करती है और ग़लत तथा मन-माने रूपमें दूसरोंके वाक्योंको उद्धृत भी करती है। ऐसी असावधान लेखनीके भरोसे पर ही प्रो० साहब 'राजवार्तिक' जैसे महान् ग्रंथका सम्पादन-भार अपने पर लेनेके लिये उद्यत हो गये थे, यह जान कर बड़ा ही आश्चर्य होता है !!

अन्तमें विद्वानोंसे मेरा सादर निवेदन है कि वे इस विषय पर अपने खुले विचार प्रकट करनेकी कृपा करें और इस सम्बन्धमें अपनी दूसरी खोजोंको भी व्यक्त करें, जिससे यह विषय और भी ज़्यादा स्पष्ट होजाय। इत्यलम्।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १८-१०-१९४०

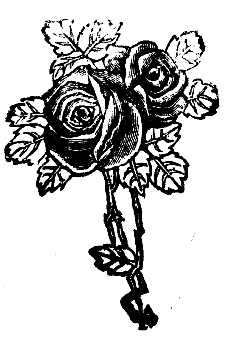

वीरसेवामन्दिरकी विज्ञप्ति

'समंतभद्रभारती'की प्रकाशन-योजना

स्वामी समन्तभद्रके जितने भी ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं उन सबका एक बहुत बढ़िया संस्करण 'समन्तभद्रभारती' के नामसे निकालनेका विचार स्थिर किया गया है। इस ग्रन्थमें स्वामीजीके सब ग्रंथोंका मूलपाठ अनेक प्राचीन प्रतियोंपरसे खोजकर रक्खा जायगा; साथमें हिन्दीअनुवाद भी अपनी खास विशेषताको लिए हुए होगा। उसे पढ़ते हुए मूल ग्रन्थकी स्पिरिटमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा; उसकी धारा भी नहीं टूटेगी; और जो अर्थ शब्दोंकी तहमें छिपा हुआ है अथवा रहस्यके रूपमें पर्देके भीतर निहित है वह सब प्रकट तथा स्पष्ट होता चला जायगा। और व्यर्थका विस्तार भी नहीं होने पाएगा। टीकाओंमें उपलब्ध होने वाली कठिन पदोंकी संस्कृत टिप्पिणियाँ भी फुटनोटसके रूपमें रहेंगी। हिन्दीकी नई उपयोगी टिप्पणियाँ भी लगाई जायँगी। और इन सबके अतिरिक्त साथमें ही बड़ी महत्वपूर्ण खोजपूर्ण प्रस्तावना होगी; जिसमें मूल ग्रंथोंके विषयादिक पर यथेष्ठ प्रकाश डाला जायगा--स्वामी समन्तभद्रका जीवन चरित्र होगा; पूरा शब्दकोश होगा और पद्यानुक्रमणिका आदिके अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी रहेंगे। कागज बहुत पुष्ट तथा अधिक समय तक स्थिर रहने वाला लगाया जायगा और छपाईतथा जिल्द बँधाई भी अव्वल नम्बरकी होगी। इस तरह इस ग्रथराजकके सर्वांग सुन्दर; अत्यन्त उपयोगी और दर्शनीय बनानेका पूरा प्रयत्न किया जायगा।

पाठकोंको यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होगी कि ग्रंथराजका कार्य प्रारम्भ हो गया है—कुछ विद्वानोंने बिल्कुल सेवाभावसे—स्वामी समन्तभद्रके ऋणसे कुछ उऋण होनेके खयालसे इसके एक एक ग्रंथके अनुवाद कार्यको बाँट लिया है।

पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यने बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र' का, पं० फूलचंदजी शास्त्रीने 'युक्तनुशासन'का, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने 'जिनशतक, नामकीस्तुति विद्याका और न्यायाचार्य पं० महेंद्रकुमारजीने 'देवागम' नामक आप्तमीमाँसाका अनुवाद करना सहर्ष स्वीकार किया है--कई विद्वानोंने अपना अनुवाद-कार्य प्रारम्भ भी कर दिया है। अवशिष्ट 'रत्नकरण्डक' नामक उपासकाध्ययनका अनुवाद मेरे हिस्सेमें रहा है, प्रस्तावना तथा जीवन चरित्र लिखनेका भारभी मेरे ही ऊपर रहेगा, जिसमें मेरे लिये अनुवादकों तथा दूसरे विद्वानोंका सहयोग भी वाँछनीय होगा। वीरसेवामन्दिरके कुछ विद्वान परिशिष्ट तैयार करेंगे, और यह दृढ़ आशा है कि प्रोफेसर ए.एन. उपाध्यायजी

एम. ए., डो. लिट. अंग्रेजीमें भूमिका लिख देनेकी भी कृपा करेंगे, और भी जो विद्वान इस पुण्य कार्यमें किसी भी प्रकारसे अपना सहयोग प्रदान करेंगे वह सब सहर्ष स्वीकार किया जायगा और मैं उन सबका हृदयसे आभारी हूँगा। जहाँ जहाँके शास्त्र भण्डारोंमें उक्त ग्रन्थोंकी प्राचीन शुद्ध प्रतियां हों अथवा इनसे भिन्न समन्तभद्रके 'जीवसिद्धि' तथा 'तत्वानुशासन' जैसे ग्रन्थ उपलब्ध हों उन्हें खोज कर विद्वान लोग मुझे शीघ्र ही निम्न पते पर सूचित करनेकी कृपा करें।

(२) 'जैनलक्षणावली' का प्रकाशन

जिस 'जैनलक्षणावली' अर्थात् लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोश का काम वीरसेवा मन्दिर में कई वर्ष से हो रहा है और जिसका एक नमूना पाठक अनेकान्त के वीरशासनाङ्क में देख चुके हैं, उसके प्रकाशन का कार्य आर्थिक सहयोग न मिलने के कारण एक साल से स्थगित था, अब पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि एक मित्र महोदय के अश्वासन पर उसके प्रकाशन का कार्य शीघ्र प्रारम्भ होने वाला है और उसमें यह खास विशेषता रहेगी कि लक्षणों का हिन्दी में सार अथवा अनुवाद भी प्रकट किया जायगा, जिससे यह महान ग्रन्थ, जो धवला जैसी बड़ी बड़ी चार जिल्दों में प्रकाशित होगा, सभी के लिये उपयोगी साबित होगा- प्रत्येक स्वाध्याय-प्रेमी इस से यथेष्ट लाभ उठा सकेगा- और सभी मंदिरों तथा लायब्रेरियों में इसका रक्खा जाना आवश्यक समझा जायगा। इसकी विशेष योजना तथा प्रत्येक जिल्द (खण्ड) के मूल्यादि की सूचना बाद को दी जावेगी।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवा मन्दिर,
सरसावा जि० सहारनपुर

गो० कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्तिके विचारपर प्रकाश

[लेखक--पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

मैंने 'गोम्मटसार कर्मकाण्डकी त्रुटि-पूर्ति' नामका एक लेख लिखा था, जो अनेकान्तकी गत-संयुक्त किरण नं० ८-९ में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में मुद्रित कर्मकाण्डके पहले अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए, 'कर्मप्रकृति' नामक एक दूसरे ग्रन्थके आधारपर जो गोम्मटसारके कर्त्ता नेमिचन्द्राचार्यका ही बनाया हुआ मालूम हुआ था, मैंने उक्त अधिकारकी त्रुटि-पूर्ति करनेका प्रयन्न किया था, और यह दिखलाया था कि ७५ गाथाएँ जो कर्मप्रकृतिमें कर्मकाण्डके वर्तमान अधिकारसे अधिक हैं और किसी समय कर्मकाण्डसे छूट गईं अथवा जुदा पड़ गई हैं, उन्हें कर्मकाण्डमें यथास्थान जोड़ देनेसे सहज हो में उसकी त्रुटि-पूर्ति हो जाती है और वह सुसंगत तथा सुसंबद्ध बन जाता है क्योंकि यह संभव नहीं है कि एक ही ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थ अथवा उसके एक भागको तो सुसंगत और सुसम्बद्ध बनाए और उसी विषयके दूसरे ग्रन्थ तथा दूसरे भागको असंगत और असम्बद्ध रहने दे। साथ ही, यह भी व्यक्त किया था कि कर्मकाण्डके इस प्रथम अधिकारके त्रुटिपूर्ण होनेको दूसरे भी अनेक विद्वान् पहलेसे अनुभव करते आरहे हैं और उनमेंसे पं० अर्जुनलाल सेठीका नाम खास तौर से उनके कथनके साथ उल्लेखित किया था। मेरे इस लेखको पढ़कर अनेक विद्वानोंने उसका अभिनन्दन किया तथा अपनी हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की, और कई विद्वानोंने स्पष्ट शब्दोंमें कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारका त्रुटि-पूर्ण होना तथा कर्मकाण्डका अधूरापन स्वीकार भी किया। उदाहरणके तौर पर पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी लिखते हैं कि--"इसमें तो कोई शक ही नहीं कि कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार त्रुटि-पूर्ण है"। और उक्त विद्यालयके न्यायाध्यापक न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री लिखते हैं कि-- "यदि यह प्रयत्न सौलह आने ठीक रहा और कर्मकाण्डकी किसी प्राचीन प्रतिमें भी ये गाथाएँ मिल गईं तब कर्मकाण्डका अधूरापन सचमुच दूर हो जायगा"।

परन्तु प्रो० हीरालालजी अमरावतीको मेरा उक्त लेख नहीं जँचा' और उन्होंने उसपर आपत्ति करते हुए अपना विचार एक स्वतन्त्र लेख द्वारा प्रकट किया है, जो अनेकान्तकी गत ११ वीं किरणमें 'मुद्रित हो चुका है। इस लेखमें आपने यह सिद्ध करनेकी चेष्टाकी है कि (१) कर्मकाण्डसे ७५ गाथाओंका छूट जाना या जुदा पड़ जाना संभव नहीं, (३) कर्मकाण्ड अधूरा न होकर पूरा और सुसम्बद्ध है; और (६) कर्मप्रकृति ग्रंथका गोम्मटसारके कर्ता द्वारा रचित होनेका कोई प्रमाण नहीं, वह किसी दूसरे नेमिचन्द्रकी रचना हो सकती है। चुनाँचे इन सब बातोंका विवेचन करते हुए,आपने अपने लेखका जो सार अन्तिम पैरेग्राफमें दिया है वह इस प्रकार है:--

"इस प्रकार न तो हमें कर्मकाण्डमें अधूरे व लंडूरे पनका अनुभव होता है, न उसमेंसे कभी उतनी गाथाओंके छूट जाने व दूर पड़ जानेकी सम्भावना जंचती है, और न कर्मप्रकृतिके गोम्मटसारके कर्ता द्वारा ही रचित होनेके कोई पर्याप्त प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्थामें उन गाथाओंके कर्मकाण्डमें शामिल कर देनेका प्रस्ताव हमें बड़ा साहसिक प्रतीत होता है।"

अब मैं प्रोफेसर साहबकी उक्त तीनों बातों पर संक्षेपमें विचार करता हुआ कुछ विशेष प्रकाश डालता हूँ और उसके द्वारा यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रो० साहबका विचार इस विषयमें ठीक नहीं हैं:--

(१) पश्चात्के लिपिकारों द्वारा ७५ गाथाओंका मूलग्रंथसे छूट जाना कोई असंभव नहीं है। जिन विद्वानोंको प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथ-प्रतियोंको देखनेका अवसर मिला है वे इन लिपिकारोंकी कर्तूतसे भली भाँति परिचित है, और अनेक बार उस पर प्रकाश डालते रहते हैं। इसका एक ताज़ा उदाहरण न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके 'सत्य शासन-परीक्षा' विषयक लेखसे भी मिलता है,जो अनेकान्तकी गत ११वीं किरणमें ही प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें उन्होंने यह स्पष्टरूपसे प्रकट किया है कि ग्रंथमें 'शब्दाद्वैत' की परीक्षाका पूरा प्रकरण छूटा हुआ है, 'पुरुषाद्वैत' की समाप्ति पर एक पंक्तिके लायक स्थान छोड़कर 'विज्ञानाद्वैत' की परीक्षा प्रारम्भ कर दीगई है, जब कि दोनोंके मध्यमें क्रम-प्राप्त 'शब्दाद्वैत' की परीक्षा होना चाहिये थी। आरा की जिस प्रति परसे उन्होंने परिचय दिया है उसमें एक पंक्तिके करीब जो स्थान छुटा हुआ है वह इस बातको सूचित करता है कि मध्यका भाग नहीं लिखा जा सका, जिसका कारण उस अंशके पत्रोंका त्रुटित हो जाना आदि ही हो सकता है। आरा की प्रति परसे जो कोई असावधान लेखक कापी करे वह उस एक पंक्तिके लायक खाली स्थानको नहीं छोड़ सकता,और इस तरह फिर उसकी प्रति परसे यह कल्पना भी सहज नहीं होती कि बीचका भाग किसी तरह छूट गया है।

प्रोफेसर साहबने यह लिखा है कि—"यदि लिपिकारोंके प्रमादसे वे (गाथाएँ) छूट गई होतीं तो टीकाकार अवश्य उस ग़लतीको पकड़ कर उन गाथाओंको यथास्थान रख देते, और यदि वे प्रसंगके लिये अत्यन्त आवश्यक थीं तो वे जान बूझकर तो उन्हें छोड़ ही नहीं सकते थे।" यह ठीक है कि कोई टीकाकार जान बूझकर ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु यदि उस टीकाकारको टीकासे पहले ऐसी ही मूल ग्रन्थ प्रति उपलब्ध हुई हो जिसमें उक्त गाथाएँ न हों और त्रुटित गाथाओंको मालूम करनेका उसके पास कोई साधन भी न हो तो फिर वह टीकाकार उन त्रुटित गाथाओंकी पूर्ति कैसे कर सकता है? फिर भी, कर्मकाण्डके प्रस्तुत टीकाकारने उन गाथाओंके विषयकी पूर्ति अन्य ग्रन्थों परसे की है और उस पूर्ति परसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि वह वहां उस विषयको त्रुटित समझता था; क्योंकि उसका वह कथन प्रकृत गाथाकी व्याख्या न होकर कथनका पूर्वापरसम्बन्ध मिलानेकी दृष्टिको लिये हुए है। यदि मूल ग्रंथमें कथन सुसम्बद्ध होता तो संस्कृत टीकाकारके लिये त्रुटित गाथाओं वाले विषयको अपनी टीकामें देनेकी कोई ज़रूरत नहीं थी।

एक उदाहरण द्वारा मैं इस विषयको और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। और वह यह है कि—श्री अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य दोनोंने 'समय-सार' तथा 'प्रवचन-सार' की टीकाएँ लिखी हैं, जिनमेंसे अमृतचन्द्रकी टीकाएँ पहलेकी बनी हुई हैं। परन्तु दोनों आचार्यों

की टीकाओंमें मूल गाथाओंकी संख्या एक नहीं है। अमृतचन्द्राचार्यकी समय-सार टीकासे जयसेनाचार्यकी समय-सार टीकामें २८ गाथाएँ अधिक हैं, और अमृतचन्द्राचार्यकी प्रवचनसार टीकासे जयसेनकी प्रवचन-सार टीकामें २२ गाथाएँ अधिक हैं। अब प्रश्न होता है कि यदि वे गाथाएँ जो जयसेनाचार्यकी टीकामें अधिक पाई जाती हैं मूल ग्रन्थकी गाथाएँ हैं तो क्या फिर आचार्य अमृतचन्द्रने उन्हें जान बूझकर छोड़ दिया है? और यदि जान बूझकर नहीं छोड़ा तो उन्हें अपनी टीकामें क्यों नहीं दिया? और यदि वे गाथाएँ लिपिकारोंसे छूट गई थीं तो क्यों उनकी पूर्ति नहीं की? और यदि वे मूल ग्रंथकी 'गाथाएं' नहीं हैं तो जयसेनाचार्यने उन्हें क्यों मूलग्रंथकी गाथा प्रकट किया? इन प्रश्नोंके उत्तर-परसे ही प्रोफेसर साहबके उक्त कथनका सहज-समाधान हो जाता है।

कर्मकाण्डसे गाथाओंके न छूटनेकी एक युक्ति प्रोफेसर साहबने यह भी दी है कि—गोम्मटसार की टीकाकी परम्परा उसके कर्ताके जीवनकालमें ही, ग्रन्थकी रचनाके साथ साथ ही प्रारम्भ हो गई थी अर्थात् चामुण्डरायने उसकी देशी (टीका) कर डाली थी, उसमें कोई ३०० वर्ष पश्चात् केशववर्णीने कनड़ी टीका लिखी और फिर कनड़ी टीकाके आधार परसे वह 'जीवतत्त्वप्रबोधनी' टीका लिखी गई, जिस टीकाकी प्रशस्तिके कुछ वाक्य आपने उद्धृत किये हैं। चामुण्डराय द्वारा देशीके लिखे जानेकी एक गाथा भी आपने उद्धृत की है, जो कर्मकाण्डमें अंतिम गाथाके रूपसे दर्ज है, और जो अपनी स्थिति परसे बहुत कुछ संदिग्ध जान पड़ती है; क्योंकि उसमें प्रयुक्त हुए 'जा' पदका कोई सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता और 'चिरकालं' पदके आगे पीछे आशीर्वादात्मक कोई पद भी नहीं है। संभव है कि इसका मूलरूप कुछ दूसरा ही रहा हो और यह अन्तमें किसी प्रकारसे प्रक्षिप्त होकर कर्मकाण्डमें रक्खी गई हो। चामुण्डरायकी बनाई हुई वैसी कोई टीका इससमय उपलब्ध नहीं है और न उक्त गाथाके आधारके अतिरिक्त दूसरा कोई स्पष्ट प्रमाण ही उसके रचे जानेका देखनेमें आता है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि चामुंडरायने उसी समय गोम्मटसार कर्म काण्ड पर कोई टीका लिखी थी तो भी यह कैसे कहा जा सकता है कि ३००-४०० वर्षके पीछे बनी हुई केशववर्णीकी कनड़ीटीका बिल्कुल उसीके आधार पर बनी है—उन्हें वह देशी टीका प्राप्त थी और उसमें उस वक्त तक कोई अंश त्रुटित नहीं हुआ था? अथवा इस लम्बे चौड़े समयके भीतर उस देशी टीकाकी प्रति और दूसरी मूल प्रतियोंमें, जो केशववर्णीको अपनी टीकाके लिये प्राप्त हुई थीं, मूल पाठ अविकल रूपमें चला आया था और उसमें किसी भी कारणवश कोई गाथा त्रुटित नहीं हुई थी? प्रस्तुत संस्कृत टीका तो केशववर्णीकी टीकासे कोई १५० वर्ष बाद बनी है; क्योंकि इसके कर्ता नेमिचन्द्र भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे और ज्ञानभूषणका अस्तित्व वि० सं० १५७५ तक पाया जाता है ❀। तथा केशववर्णीकी टीका शक सं० १२८१ (वि० सं०

❀ सं० १५७५ में ज्ञानभूषण भट्टारकको ज्ञानार्णवकी एक प्रति ब्रह्म तेजपालने लाकर भेंट की थी, ऐसा मुख्तारसाहबके ऐतिहासिक खातोंके रजिष्टरपरसे मालूम होता है।

१४१६) में बनकर समाप्त हुई थी। ऐसी हालतमें यह अनुमान करना निरापद नहीं हो सकता कि इन टीकाओंमें चामुण्डरायकृत देशीका आश्रय लिया गया है। बाकी यह कल्पना तो प्रोफ़ेसर साहबकी बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है कि— "जहाँ (जिस चित्रकूटमें) यह (संस्कृत) टीका रची गई थी वह संभवत: वही चित्रकूट था जहाँ सिद्धान्ततत्त्वज्ञ एलाचार्यने 'धवला' टीकाके रचयिता वीरसेनाचार्यको सिद्धान्त पढ़ाया था, ऐसी परिस्थितिमें यह संभव नहीं जान पड़ता कि उक्त टीकाके निर्माणकालमें व उससे पूर्व कर्मकांडमें से उसकी आवश्यक अंगभूत कोई गाथाएँ छूट गई हों या जुदी पड़ गई हों"! क्योंकि वह चित्रकूट आज भी मौजूद है, आज यदि कोई वहाँ बैठकर ग्रन्थ बनाने लगे तो क्या उसके सामने वह सब दफ्तर अथवा साधन सामग्री-मय शास्त्रभंडार मौजूद होगा, जो एलाचार्य और वीरसेनके समयमें था? यदि नहीं तो एलाचार्यके और वीरसेनसे कोई सातसौ वर्ष पीछे टीका बनाने वाले नेमिचन्द्रके सामने वह सब दफ्तर अथवा शास्त्रभंडार कैसे हो सकता है? यदि नहीं हो सकता तो फिर उस चित्रकूट स्थान पर इस टीकाके बनने मात्रसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह जिस कर्मकाण्डकी टीका है उसमें उसके बननेसे पहले कोई गाथाएँ त्रुटित नहीं हुई थीं। अत: पहली बात जो प्रोफ़ेसर साहबने विरोधमें कही है वह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

(२) मुद्रित कर्मकाण्डके प्रथम अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' में कर्मकी मूल आठ प्रकृतियोंके नामादिक दिये हैं और प्रत्येक मूलप्रकृतिकी कितनी कितनी उत्तर प्रकृतियाँ हैं यह बतलाते हुए उत्तर प्रकृतियोंकी कुल संख्या १४८ दी है; परन्तु इन १४८ प्रकृतियोंमें से बहुत कम प्रकृतियोंके नामादिकका वर्णन दिया है, और जो वर्णन दिया है वह अपने कथनके पूर्व सम्बन्धके बिना बहुत कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, इस बातको मैंने अपने पूर्व लेखमें विस्तारके साथ प्रकट किया था। एक ग्रन्थकार खास प्रकृतियोंका अधिकार लिखने बैठे और उसमें सब प्रकृतियोंके नाम तक भी न देवे यह बात कुछ भी जी को लगती हुई मालूम नहीं होती। प्रकृति-विषयक जो अधिकार पंचसंग्रह प्राकृत, पंच संग्रह संस्कृत और धवलादि ग्रंथोंमें पाये जाते हैं उन सबमें भी कर्मकी १४८ प्रकृतियोंका नामोल्लेख पूर्वक वर्णन पाया जाता है। इससे मुद्रित कर्मकांडके उक्त अधिकारमें सम्पूर्ण उत्तर प्रकृतियोंका वर्णन न होना ज़रूर ही उसके त्रुटित होनेको सूचित करता है। प्रोफ़ेसर साहबने इस बात पर कोई खास लक्ष्य न देकर जैसे तैसे यह बतलानेकी चेष्टा की है कि यदि उक्त गाथाएँ इस ग्रन्थमें न रहें तो कोई विशेष हानि नहीं। कहीं तो आपने यह लिख दिया है कि अमुक "गाथाओंकी कोई विशेष आवश्यकता दिखाई नहीं देती," कहीं यह कह दिया है कि अमुक "गाथाएँ २१ वीं गाथाके स्पष्टीकरणार्थ-टीकारूप भले ही मान ली जावें किन्तु सारग्रन्थके मूलपाठमें उनकी गुंजाइश नहीं दिखाई देती," कहीं यह भी लिख दिया है कि अमुक "गाथाओंके न रहनेसे कोई बड़ा प्रकाश व अन्धकार नहीं उत्पन्न होता," कहीं यह सूचित किया है कि अमुक गाथाका आशय अमुक गाथासे निकाला

जा सकता है—परिशेष न्यायसे अमुक गाथाका आशय लिया जा सकता है, और एक स्थान पर यहाँ तक भी लिखा है कि "यहाँ तथा आगामी त्रुटि-पूर्ण जँचने वाले स्थलों पर कर्ताका विचार स्वयं भेदोपभेदोंके गिनानेका नहीं था। वह सामान्य कथन या तो उनकी रचना में आगे पीछे आचुका है या उन्होंने उसे सामान्य जानकर छोड़ दिया है"। परन्तु यह कहीं भी नहीं बताया कि उक्त गाथाओंको ग्रन्थमें त्रुटित मानकर शामिल कर लेनेमें क्या विशेष बाधा उत्पन्न हो सकती है? सिर्फ एक स्थल पर थोड़ा-सा विरोध प्रदर्शित किया है, जो वास्तवमें विरोध न होकर विरोध-सा जान पड़ता है और जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

कर्मकांडमें 'देहादी फासंता पण्णासा' नामकी एक गाथा नं ४७ पर है, जिसमें पुद्गलविपाकी ६२ प्रकृतियोंकी गणना करते हुए देहसे स्पर्श पर्यंत नामकर्मकी जो प्रकृतियाँ हैं उनमेंसे पचास प्रकृतियोंके ग्रहण करनेका विधान है। इस गाथा को लेकर प्रोफ़ेसर साहब यह आपत्ति करते हैं—

"कर्मकांडकी गाथा नं० ४७ में स्पष्ट कहा है कि देहसे लेकर स्पर्श तक पचास प्रकृतियाँ होती हैं किन्तु कर्मप्रकृतिकी गाथा नं० ७५ में दो प्रकारकी विहायोगति भी गिना दी गई है, जिससे वहाँ शरीरसे लगाकर स्पर्श तककी संख्या ५२ हो गई है, अब यदि इन (७५ से ८२ तक) गाथाओंको हम कर्मकांडमें रख देते हैं तो गाथा नं० ४७ के वचनसे विरोध पड़ जाता है।"

यह आपकी आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि गाथा नं० ४७ में यह नहीं कहा गया कि—"देहसे लगा कर स्पर्श तक पचाश कर्म प्रकृतियाँ होती हैं।" जैसा कि प्रोफेसर साहबने समझ लिया है, बल्कि कथनका आशय यह है कि देहसे स्पर्श पर्यंत जो प्रकृतियाँ होती हैं उनमेंसे ५० प्रकृतियाँ यहाँ पुद्गलविपाकीके रूपमें ग्रहणकी जानी चाहियें। शरीरसे स्पर्श पर्यंत प्रकृतियोंकी संख्या जरूर ५२ होती है और उनमें विहायोगतिकी प्रशस्त-अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकृतियाँ भी शामिल हैं; परन्तु ये दोनों प्रकृतियां कर्मकाण्डकी ४९-५० नं० की गाथाओंमें जीवविपाकी प्रकृतियोंकी संख्यामें गिनाई गई हैं। इस विशेष विधानके अनुसार उन ५२ प्रकृतियोंमेंसे इन दो प्रकृतियोंको, जो कि उस वर्गकी नहीं हैं—पुद्गलविपाकी नहीं हैं—निकाल देने पर शेष प्रकृतियाँ ५० ही रह जाती हैं, जिनकी गणना पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंमें की गई है। चुनाँचे कर्मप्रकृति ग्रन्थके टिप्पणमें भी, जो सं० १५२७ की लिखी हुई शाहगढ़की प्रति पर पाया जाता है, ऐसा ही आशय व्यक्त किया गया है। यथा:—

> देहादिस्पर्शपर्यंतप्रकृतीनां मध्ये विहायोगतिं व्याकृत्य शेषपंचाशत् प्रकृतीनां संख्याऽत्र वाक्ये विवक्षिता"

इससे स्पष्ट है कि गाथा नं० ४७ के जिस आशयको लेकर प्रोफेसर साहबने जो आपत्ति खड़ी की है वह उसका आशय नहीं है और इसलिये वह आपत्ति भी नहीं बन सकती।

यहां पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रोफेसर साहबने गोम्मटसारको जिस अर्थमें सार ग्रन्थ समझा है उस अर्थमें वह सार ग्रन्थ नहीं है, वह वास्तवमें एक संग्रह ग्रंथ है, जिसे मैं 'गोम्मटसार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकके

अपने लेख (अनेकान्त वर्ष ३,किरण ४,पृ०२९७)में विस्तारके साथ प्रकट भी कर चुका हूँ। मूल ग्रन्थ में भी 'गोम्मटसंगहसुत्त' नामसे ही उसका उल्लेख है। उसमें अनेक गाथाएँ दूसरे ग्रन्थों परसे संग्रह की गई हैं और अनेक गाथाओंको कथन-प्रसंगकी दृष्टिसे पुनः पुनः भी देना पड़ा है। इसलिये 'कर्मप्रकृति' की उन ७५ गाथाओंमेंसे यदि कुछ गाथाएँ 'जीवकाण्ड' में आ चुकी हैं तो इससे उनके पुनः कर्मकाण्डमें आजाने मात्रसे पुनरावृत्ति-जैसी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती; क्योंकि कर्मप्रकृति की गाथाको छोड़कर कर्मकाण्डमें दूसरी भी ऐसी गाथाएँ पाई जाती हैं जो पहले जीवकाण्डमें आ चुकी हैं, जैसे कर्मकाण्डके 'त्रिकरणचूलिका' नामके अधिकारकी १७ गाथाओंमेंसे ७ गाथाएँ* पहले जीवकाण्डमें आचुकी हैं। इसके सिवाय, खुद कर्मकाण्डमें भी ऐसी गाथाएँ पाई जाती हैं जो कर्मकाण्डमें एकसे अधिक स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। उदाहरणके लिये जो गाथाएँ १५५ नं० से १६२ नं० तक पहले आ चुकी हैं वे ही गाथाएँ पुनः नं० ९१४ से ९२१ तक दी गई हैं। और कथनों की पुनरावृत्तिकी तो कोई बात ही नहीं, वह तो अनेक स्थानों पर पाई जाती है। उदाहरणके लिये गाथा नं० ५० में नामकर्मकी जिन २७ प्रकृतियों का उल्लेख है उन्हे ही प्रकारान्तरसे नं०५१की गाथा में दिया गया है। ऐसी हालतमें उन ७५ गाथाओं मेंसे कुछ गाथाओं पर पुनरावृतिका आरोप लगा कर यह नहीं कहा जा सकता कि वे कर्मकाण्डकी गाथाएँ नहीं हैं अथवा उनके कर्मकाण्डमें शामिल होनेसे कोई बाधा आती है।

चूंकि हालमें 'कर्मकाण्ड' की ऐसी प्रतियाँ भी उपलब्ध हो गई है जिनमें वे सब विवादस्थ ७५ गाथाएँ मौजूद हैं जिन्हें 'कर्मप्रकृति' परसे वर्तमान मुद्रित कर्मकाण्डके पाठमें शामिल करनेके लिये कहा गया था, और उन प्रतियोंका परिचय आगे इस लेखमें दिया जायगा, अतः इस नम्बर पर मैं और अधिक लिखनेकी कोई जरूरत नहीं समझता।

(३) जिस कर्मप्रकृति ग्रन्थके आधार पर मैंने ७५ गाथाओंका कर्मकाण्डमें त्रुटित होना बतलाया था उसमें मैंने गोम्मटसारकी अधिकांश गाथाओंको देखकर कर्ताका निश्चय नहीं किया था बल्कि उसमें कर्ताका नेमिचन्द्र सिद्धान्ती, नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ऐसा स्पष्ट नाम दिया हुआ है। सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीसे भिन्न दूसरे नहीं कहलाते। इसके सिवाय, हालमें शाहगढ़ जि० सागरके सिंघईजीके मन्दिरसे 'कर्मप्रकृति' की सं० १५२७ की लिखी हुई जो एकादशपत्रात्मक सटिप्पण प्रति मिली है, उसकी अन्तकी पुष्पिकामें कर्ताका नाम स्पष्टरूपसे नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती दिया हुआ है और साथ ही उसे कर्मकांडका प्रथम अंश भी प्रकट किया है जिससे दो बातें बिल्कुल स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह कि कर्मप्रकृति नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकी ही कृति है और दूसरी यह कि वह नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती की कोई भिन्नकृति नहीं है बल्किवह उनकी प्रधानकृति कर्मकाण्डका ही प्रथमअंश है और इसलिये मैंने जिस कर्मप्रकृतिकेआधारपर मुद्रितकर्मकाण्डमें

---

* वे ७ गाथाएँ जीवनकांडमें नं० ४७, ४८, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, पर पाई जाती हैं; और कर्मकांडमें नं० ८९७, ८९८, ८९९, ९०८, ९१०, ९११, ९१२ पर उपलब्ध होती हैं।

७५ गाथाओंका त्रुटित होना बतलाया था उसमें अब कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। कर्मप्रकृतिकी उस प्रतिका वह अंतिम अंश, जिसके साथ ग्रन्थ-प्रति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार है:—

"इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तच्चक्रवर्तिविरचितकर्मकाण्डस्य प्रथमोंशः समाप्तः। शुभं भवतु लेखकपाठकयोः अथ संवत् १५२७ वर्षे माघवदी १४ रविवासरे।"

यहाँ पर इस कमप्रकृतिकी प्रतिकी विशेषताके सम्बन्धमें इतना और भी नोट कर देना आवश्यक है कि इसकी टिप्पणियोंमें 'सिय अत्थि णत्थि' और 'वम्मा-वंसा-मेघा' इन दो गाथाओंको प्रक्षिप्त सूचित किया है और उन्हें सिद्धान्तगाथा बताया है, जिनमेंसे 'सिय अत्थि णत्थि' नामकी गाथा कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' की १४ नं० की गाथा है। साथ ही, इस प्रकरणकी कुल गाथाओंकी संख्या १६० दी है अर्थात् आरा-सिद्धान्त भवनकी प्रतिसे इसमें निम्न एक गाथा अधिक है:—

वण्ण-रस-गंध फासा-चउ चउ इग-सत्त सम्ममिच्छत्त।
होंति अबंधा-बंधण पण-पण संघाद-सम्मत्तं॥

यहाँ पर यह बात भी नोट कर लेनेकी है कि कर्मप्रकृतिकी यह प्रति जिस सं० १५२७ की लिखी हुई है उसी वक्तके करीबकी बनी हुई नेमिचन्द्राचार्यकी 'जीवतत्वप्रबोधनी' नामकी संस्कृत टीका है, जिसके वाक्योंको प्रोफेसर साहबने उद्धृत किया है और यह कल्पनाकी है कि उसका वर्तमानमें उपलब्ध होने वाला पाठ पूर्व-परम्पराका पाठ है। और इससे यह मालूम होता है कि कर्मकांडके प्रथम अधिकारमें उक्त ७५ गाथाएँ पहलेसे ही संकलित और प्रचलित हैं।

शाहगढ़के उक्त मंदिर-भण्डारसे कर्मकाण्डकी भी एक प्रति मिली है, जो अधूरी है और जिसमें शुरूके दो अधिकार पूरे और तीसरे अधिकारकी कुल ४० गाथाओंमें से २५ गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ प्रति बहुत जीर्ण-शीर्ण है, हाथ लगानेसे पत्र प्रायः टूट जाते हैं। इसका शेष भाग इसी तरह टूट-टाट कर नष्ट हुआ जान पड़ता है। इसके पहले 'प्रकृति-समुत्कीर्तन' अधिकारमें भी १६० गाथाएँ हैं, प्रत्येक गाथा पर अलग अलग नं० न देकर अधिकारके अन्तमें १६० नं० दिया है। इस प्रकरणमें भी उक्त कर्मप्रकृति वाली ७६ गाथाएँ (७५+१) ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं।

कर्मकांडकी एक दूसरी प्रति, जिसकी पत्र संख्या ५३ है और जो सं० १७०४ में मुगल बादशाह शाहजहाँके राज्यकालमें लिखी हुई है अपने घर पर ही पिताजीके संग्रहमे उपलब्ध हुई है। यह संस्कृतटीका-सहित है। इसमें कर्मकाण्डका प्रथम अधिकार ही है, गाथा संख्या १६० दी है और इसमें भी वे ७६ गाथाएँ ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। संस्कृत टीका ज्ञानभूषण—सुमतिकीर्ति की बनाई हुई है। इसके अन्तके दो अंश नीचे दिये जाते हैं:—

"इति सिद्धांतज्ञानचक्रवर्तिश्रीनेमिचन्द्रविरचित-कर्म्मकांडस्य टीका समाप्तं (सा)॥"

"मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचंद्रो यतीश्वरः।
तस्य पादस्य वीरेंदुर्विबुद्धो विश्ववेदितः॥ १॥
तदन्वये दयांभोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।
टीकां हि कर्मकांडस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक्॥ २॥"

× × ×

"भट्टारक श्रीज्ञानभूषणनामांकिता सूरिसुमतिकीर्तिविरचिता कर्म्मकांडटीका समाप्ता ॥ ॥ संवतु १७०४ वर्षें जेठ बदि १४ रविदिवसे सुभनक्षत्रे श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री आचार्य कुंदाकुंदान्वये श्रीब्रह्मजिनदासउपदेसे धर्म्मापुरी अस्थाने मालवदेसे पातिसाहि मुगल श्री साहिजहां ॥"

कर्मकाँडकी तीसरी प्रति पं० हेमराजजीकी भाषाटीकासहित, तिगोड़ा जि० सागरके मंदिरके शास्त्रभंडारसे मिली है, जो संवत् १८२९ की लिखी हुई है, पत्र संख्या ५४ है। यह टीका भी कर्मकाण्डके प्रथम अधिकार 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन'की है और इसमें भी १६० गाथाएँ हैं जिनमें उक्त ७६ गाथाएँ भी शामिल हैं।

कर्मप्रकृतिकी अलग प्रतियों और कर्मकाण्डकी उक्त प्रथमाधिकारकी टीकाओं परसे यह स्पष्ट है कि कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारका अलग रूपमें बहुत कुछ प्रचार रहा है। किसीने उसे 'कर्मप्रकृति' के नामसे किसीने 'कर्मकाण्डके प्रथम अंश'के नामसे और किसीने 'कर्मकाण्ड' के ही नामसे उल्लेखित किया है। ऐसी हालतमें प्रोफेसर साहबके इस लिखनेमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता कि—"यदि वह कृति (कर्मप्रकृति) गोम्मटसारके कर्ता की ही है तो वह अब तक प्रसिद्धिमें क्यों नहीं आई।" वह काफी तौरसे प्रसिद्धिमें आई जान पड़ती है। इस विषयमें मुख्तार साहब (सम्पादक 'अनेकान्त')से भी यह मालूम हुआ है कि उन्हें बहुत से शास्त्र भण्डारोंमें कर्मप्रकृति नामसे कर्मकाण्डके प्रथम अधिकारकी प्रतियोंको देखनेका अवसर मिला है।

इस सम्पूर्ण विवेचन और प्रतियोंके परिचयकी रोशनी परसे मैं समझता हूँ इस विषयमें अब कोई सन्देह नहीं रहेगा कि कर्मकाण्डका मुद्रित प्रथम अधिकार जरूर त्रुटित है, और इसलिये प्रोफेसर साहबने मेरे लेख पर जो आपत्तिकी है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है। आशा है प्रोफेसर साहबका इससे समाधान होगा और दूसरे विद्वानोंके हृदयमें भी यदि थोड़ा बहुत सन्देह रहा होतो वह भी दूर हो सकेगा। विद्वानोंको इस विषय पर अब अपनी स्पष्ट सम्मति प्रकट करनेकी जरूर कृपा करनी चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २१-१०-१९४०

* * *

निवेदन

इस १२वीं किरणके साथ 'अनेकान्त' के कृपालु ग्राहकों द्वारा भेजा हुआ शुल्क समाप्त हो गया है। अब देहली से 'अनेकाँत' का प्रकाशन बंद किया जा रहा है। अतः 'अनेकान्त' के सम्बंधमें अब पत्र व्यवहार उसके सम्पादक पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर' सरसावा जि०सहारनपुर से करना चाहिये। इन दो वर्षों में अनेकाँत-व्यवस्था सम्बंधी जो अनेक भूल हुई हैं उनके लिये मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

अ०प्र० गोयलीय

व्यवस्थापक

Registered. No. L. 4328

क्रान्तिकारी ऐतिहासिक पुस्तकें

[ले० अयोध्याप्रसाद गोयलीय]

१. राजपूतानेके जैनवीर—

पढ़नेके लिये हाथ भरके कलेजे की जरूरत है। मर्दोंकी बात जाने दीजिये भीरु और कायर भी इसे पढ़ते पढ़ते मूँछों पर ताव न देने लगें तो हमारा जिम्मा। राजपूतानेमें जैनवीरोंकी तलवार कैसी चमकी? धनवीरोंने सरसे कफन बान्धकर आततायियोंके घुटने क्योंकर टिकवाये? धर्म और देशके लिये कैसे कैसे अभूतपूर्व बलिदान किये, वही सब रोमांचकारी ऐतिहासिक विवरण ३५२ पृष्ठोंमें पढ़िये। सचित्र, मूल्य केवल दो रुपया।

२. मौर्य साम्राज्यके जैनवीर—

भूमिका-लेखक साहित्याचार्य प्रो० विश्वेश्वरनाथ रेउके शब्दोंमें—"इस पुस्तककी भाषा मनको फड़काने वाली, युक्तियाँ सप्रमाण और ग्राह्य तथा विचारशैली साम्प्रदायिकतासे रहित समयोपयोगी और उच्च है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ लेनेसे केवल जैनोंके ही नहीं प्रत्युत भारतवासी मात्रकेहृत पटपर अपने देशके अतीत गौरवके एक अंशका चित्र अंकित हुए बिना न रहेगा। ऐसा कौन अभागा भारतवासी होगा जो अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी लिखी भारतकी क़रीब साढ़े बाईससौ वर्ष पुरानी इस सारगर्भित और सच्ची गौरव-गाथाको सुनकर उत्साहित न होगा।" पृष्ठ १७३ मू० छह आना।

३. हमारा उत्थान और पतन—

"चान्द"के शब्दोंमें—"इस पुस्तकमें महाभारत से लेकर सन १२०० ईस्वी तकके भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि डाली गई है। भारतवासियोंके चारित्रमें जो त्रुटियाँ उत्पन्न हो गई थीं और जिनके कारण उनको विदेशियोंके सन्मुख पदानत होना पड़ा उन पर मार्मिकताके साथ विचार किया गया है। पुस्तक पठनीय है और अत्यन्त सुलभ मूल्यमें बेची जाती है।" "विश्वामित्र" लिखता है—"पुस्तककी भाषा सजीव और दृष्टिकोण सुन्दर है। यह काफ़ी उपयोगी पुस्तक है।" "भारत कहता है—"लेखककी लेखनीमें ओज और प्रवाह पर्याप्त मात्रामें है।" पृष्ठ १४४ मू० छह आना।

स्फूर्तिदायक जीवनज्योति जगाने वाली पुस्तकें

४. अहिंसा और कायरता मूल्य० एक आना
५. हमारी कायरताके कारण " "
६. विश्वप्रेम सेवाधर्म " "
७. क्या जैन समाज ज़िन्दा है? मू० एक आना
८. गौरव-गाथा " "
९. जैन-समाजका ह्रास क्यों? " छह पैसा

यदि यह पुस्तकें आपने नहीं देखी हैं तो आज ही मंगाइये, मन्दिरों, पुस्तकालयों, साधुओंको भेटस्वरूप दीजिये, उपहारमें बाँटिये जैनेतरोंमें बाँटिये।

व्यवस्थापक—हिन्दी विद्यामन्दिर, पो०बो० नं०४८, न्यू देहली।

वीर प्रेस आफ इण्डिया, कनॉट सर्कस, न्यू देहली।